फाल्गुन, वीर नि० सं० २४६६
मार्च १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ७
वार्षिक मूल्य ३ रु०

वीर अवतार का लीन

बलिदान का एक दृश्य

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

विषय-सूची

१. प्रभाचन्द्र-स्मरण...	... ...	३१७
२. बढ़े चलो [ले० श्री० माईदयाल बी. ए. (ऑनर्स) बी. टी.	...	३१८
३. अहिंसा-तत्त्व [पं० परमानन्दजी शास्त्री...	...	३१९
४. मनुष्य जातिके महान् उद्धारक [श्री बी. एल. सराफ़ वकील	...	३२५
५. हरिभद्र सूरि [श्री० रतनलाल संघवी ...	...	३२८
६. वीर-नलुवा (कहानी)—[पं० मूलचन्द वत्सल	...	३३९
७. सरल योगाभ्यास [श्री० हेमचन्द्र मोदी ...	...	३४१
८. होलीका त्योहार [सम्पादकीय ...	...	३५०
९. होली होली है (कविता) [युगवीर ...	...	३५१
१०. दर्शनोंकी आस्तिकता और नास्तिकताका आधार [पं० ताराचन्द	...	३५२
११. होली है (कविता) [युगवीर ...	...	३५९
१२. जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती हैं [श्री० ला० हरदयाल एम. ए....		३६०
१३. भगवान महावीर और उनका उपदेश [बा० सूरजभान जी वकील	...	३६९
१४. साहित्य परिचय और समालोचन	...	३७४

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंकी कुछ फाइलोंकी साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२ वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमेंभेंट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनियार्डर भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बंधवानेमें असमर्थ हैं उन्हें १२ वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिए आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा।

—व्यवस्थापक

दो शब्द

यदि अनेकान्तके पाठक दो-दो भी अनेकान्तके ग्राहक बनानेकी कृपा करें तो अनेकान्त बहुत कुछ उन्नत हो सकता है। आशा है उत्साही पाठक इस ओर अवश्य प्रयत्न करेंगे।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

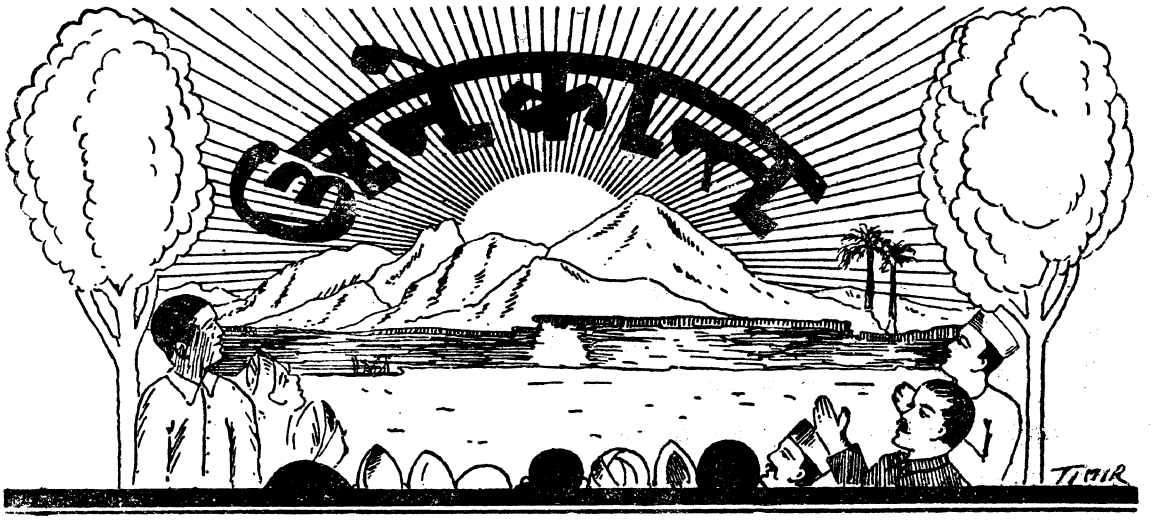

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
फाल्गुन-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६ | किरण ५

प्रभाचन्द्र-स्मरण

अभिभूय निजविपक्षं निखिलमतोद्योतनो गुणाम्भोधिः ।
सविता जयतु जिनेन्द्रः शुभप्रबन्धः प्रभाचन्द्रः ॥—न्यायकुमुदचन्द्र-प्रशस्तिः

अपने विपक्षरूप मोहको पराजित करके जो समस्त मतोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले हैं वे गुण-समुद्र, जितेन्द्रियोंमें अग्रगण्य और शुभप्रबन्ध—न्यायकुमुदचन्द्र जैसे पुण्य-प्रबन्धोंके विधाता—प्रभाचन्द्राचार्य नामके सूर्य जयवन्त हों—अपने वचन-तेजसे लौकिकजनोंके हृदयान्धकारको दूर करनेमें समर्थ होवें ।

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे ।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाल्हादितं जगत् ॥—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

जिन्होंने चन्द्रका उदय करके—'न्यायकुमुदचन्द्र' ग्रंथकी रचना करके—जगतको सदाके लिये आनन्दित किया है उन चन्द्र-किरण-समान उज्जवल यशके धारक विचारक मुनि प्रभाचन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ ।

माणिक्यनन्दी जिनराज-वाणी-प्राणाधिनाथः परवादि-मर्दी ।
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्षमायां मार्तण्ड-वृद्धौ नितरां व्यदीपीत् ॥
सुखने न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नमः ।
शाकटायन कृत्सूत्र न्यासकर्त्रे व्रती(प्रभे)न्दवे ॥—शिमोगा-नगरतालुक-शिलालेख नं० ४६

जो माणिक्य (आचार्य) को आनन्दित करनेवाले—उनके परीक्षासुख ग्रंथपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामका महाभाष्य लिखकर उनकी प्रसन्नता सम्पादन करनेवाले—थे, जिनराजकी वाणीके प्राणाधार थे—जिन्हें पाकर एक बार जिनवाणी सनाथ हुई थी—और जो परवादियोंका मानमर्दन करनेवाले थे, वे प्रभाचन्द्र आश्चर्य है कि इस पृथ्वीपर निरन्तर ही मार्तण्डकी वृद्धिमें प्रदीप्त रहे हैं ! अर्थात् प्रभापूर्ण चंद्रमा यद्यपि मार्तण्ड (सूर्य) की तेजोवृद्धिमें कोई सहायक नहीं होता—उलटा उसके तेजके सामने हतप्रभ हो जाता है, परन्तु ये प्रभाचन्द्र मार्तण्ड (प्रमेयकमलमार्तण्ड) की तेजोवृद्धिमें निरन्तर ही अव्याहतशक्ति रहे हैं एक विचित्रता है ।

जो न्यायकुमुदचन्द्रके उदयकारक—जन्मदाता—हुए हैं और जिन्होंने शाकटायनके सूत्र—व्याकरणशास्त्र-पर न्यास रचा है, उन प्रभाचन्द्र मुनिको नमस्कार है ।

बढ़े चलो

[ले०-श्री माईदयाल जैन, बी.ए.(आनर्स) बी.टी.]

बढ़े चलो। बढ़ते चलना उन्नति तथा प्रगतिकी निशानी है। जो बढ़ता नहीं, वह धीरे धीरे अवनति करता है। इसलिए बढ़े चलो।

बढ़े चलो। सर्वाङ्गरूपसे बढ़ो। शारीरिक, आर्थिक, नैतिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आदि सभी दिशाओंमें बराबर बढ़ते चलो। किसी अंग को भूल जाना उतनी ही मात्रामें पीछे रहना है।

बढ़े चलो। व्यक्तिगतरूपसे बढ़ो और सामूहिकरूपसे बढ़ो। कुटुम्ब, गली, शहर, देश तथा विश्वके जीवों को बढ़ाते हुए, साथ लेते हुए चलो। नहीं तो वे आपको पीछे खींचलेंगे। आत्मकल्याण तथा परमार्थ करते हुए बढ़े चलो।

बढ़े चलो। सात्विकरूपसे बढ़ो। न्याय तथा धर्ममार्गपर चलते हुए बढ़ो। दूसरोंको कुचलकर, किसीको पीछे धकेलकर, बढ़े हुओंको नीचे गिराकर या अन्यायसे मत बढ़ो।

बढ़े चलो। प्रतिक्षण, प्रतिदिन और प्रतिवर्ष बढ़ते ही चलो। इस जीवनमें बढ़ो, दूसरे जीवनमें बढ़ो और जीवनान्तरमें बढ़ो।

बढ़े चलो! आपके मार्गमें जो संकट, विपत्तियाँ तथा जो रुकावटें आएँ, उनको जीतते हुए बढ़े चलो। बिना संकटों तथा विपत्तियोंका सामना किए, बढ़नेकी सच्ची क्षमता प्राप्त भी नहीं होती। ठोकरें खाकर ही आदमी चलना सीखता है। इसलिए संकटोंसे मत घबराओ, उनका स्वागत करो और बढ़े चलो।

बढ़े चलो। यदि बढ़ते हुए आवश्यकता हो तो पीछे हटने में मत झिजको। किन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट मत हो। पीछे हटकर भी आगे ही बढ़ो।

बढ़े चलो। बढ़नेकी योजना (स्कीम) बनालो। फिर उसके अनुसार इस प्रकार बढ़ते चलो, जैसे सेनापतिकी योजनाके अनुसार सेना बढ़ती है और इंजिनीयरकी योजना (नक़शे) के अनुसार मकान बढ़ता है।

बढ़े चलो। ठोस तथा स्थायीरूपसे बढ़ो। जो क़दम पड़े दृढ़ हो। आगे बढ़नेसे पहिले, जो प्राप्त किया है उसपर पूरा प्रभुत्व तथा अधिकार जमालो। 'आगे दौड़ पीछे चौड़' वाली कहावत मत करो। नहीं तो, वर्षोंका काम पलमें मलियामेट हो जायेगा।

बढ़े चलो। दूसरोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए, अरोंकी गलतियोंको छोड़ते हुए, तथा उनकी अच्छी बातोंको अपनाते हुए बढ़ो। किन्तु मौलिकरूपसे बढ़ना कुछ निराली ही शान रखता है। दूसरोंका मार्ग,सम्भव है, आपके अनुकूल न पड़े। संसारमें कोई भी दो आदमी समानरूपसे नहीं बढ़े। प्रत्येक अपने ढंगसे अपना मार्ग बनाकर बढ़ा है। तुम भी किसी नए मार्ग से ही बढ़ो तो अधिक अच्छा है।

बढ़े चलो। बढ़नेके जो साधन हैं, सबका उपयोग करते हुए बढ़ो। जो साधन आज तक बने हैं, उन्हें इस्तेमाल करो। तुम्हें कोई नए साधन सूझ पड़ें, उन्हें बनाओ और उपयोगमें लाओ। साधन सच्चे तथा न्याययुक्त होने चाहिएँ। किंतु साधनोंमें फँसकर बढ़ने को मत भूल जाओ।

बढ़े चलो। बढ़ कर घमण्ड, मद तथा अभिमान मत करो। बढ़े हुए फलदार वृक्षके समान नम्र बनकर झुककर, दूसरोंको लाभ पहुँचाओ। वरना जो बढ़े नहीं हैं, वे तुमसे ईर्षा करेंगे और शायद तुम्हें हानि पहुँचावें

बढ़े चलो। बढ़नेकी सीमा नहीं है। भिखारीसे भगवान्, सिपाही से कमाण्डर, हिस्सेदारसे डायरेक्टर, साधारण आदमीसे किसी प्रजातंत्र शासनके प्रधान मंत्री या सभापति, अनुयायीसे परमात्मा बन सकते हो। इसलिए संतुष्ट होकर न बैठते हुए, बढ़े चलो।

बढ़े चलो। बढ़नेमें दूसरोंकी सहायता मिले, तो उसका स्वागत करो, उससे लाभ उठाओ। परन्तु दूसरोंकी सहायताकी प्रतिक्षा न करो और न परावलम्बी बनो। अपने पैरों पर खड़े होकर स्वयं चलते हुए बढ़ो।

बढ़े चलो। सोओ मत। सोच विचारमें समय मत गँवाओ। तुम्हारे साथी, तुमसे आगे बढ़े जा रहे हैं, तुम पीछे क्यों हो, इसलिए उठो और आगे बढ़े चलो।

अहिंसा-तत्व

[ले०— पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

संसारके समस्त धर्मोंका मूल अहिंसा है; यदि इन धर्मोंमें से अहिंसाको सर्वथा पृथक् कर दिया जाय तो वे धर्म निष्प्राण एवं अनुपादेय हो जाते हैं; इसी कारण अहिंसातत्त्वको भारतके विविध धर्म संस्थापकों ने अपनाया ही नहीं, किन्तु उसे अपने अपने धर्मका प्रायः मुख्य अंग भी बनाया है। अहिंसा जीवन-प्रदायिनी शक्ति है, इसके बिना संसारमें सुख शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता। जिस तरह सम्यग्निर्धारित राज्यनीतिके बिना राज्यका संचालन सुचारु रीतिसे नहीं हो सकता उसी तरह अहिंसाका अनुसरण किये बिना शान्तिका साम्राज्य भी स्थापित नहीं हो सकता। अहिंसा के पालनसे ही जीवात्मा पराधीनताके बन्धनोंसे छूटकर वास्तविक स्वाधीनताको प्राप्त कर सकता है। अहिंसाकी भावना आज भारतका प्राण है, परन्तु इसका पूर्ण रूप से पालन करना और उसे अपने जीवनमें उतारना कुछ कठिन अवश्य प्रतीत होता है। अहिंसासे आत्मनिर्भयता, वीरता, दया और शौर्यादि गुणोंकी वृद्धि होती है, उससे ही प्राणि-समाजमें परस्पर प्रेम बढ़ता है और संसारमें सुख-शान्तिकी समृद्धि होती है। अहिंसाके इस गम्भीर रहस्यको समझनेके लिये उसके विरोधी धर्म हिंसाका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

हिंसा शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातुसे निष्पन्न होता है; इस कारण उसका अर्थ—प्रमाद वा कषायके निमित्त से किसी भी सचेतन प्राणीको सताना या उसके द्रव्य-भाव रूप-प्राणोंका वियोग करना होता है *। अथवा किसी जीवको बुरे भावसे शारीरिक तथा मानसिक कष्ट देना, गाली प्रदानादिरूप अपशब्दोंके द्वारा उसके दिल को दुखाना, हस्त, कोड़ा, लाठी आदिसे प्रहार करना इत्यादिको अर्थात् उसे प्राणरहित या प्राणपीडित करनेके लिये जो व्यापार किया जाता है उसे 'हिंसा' कहते हैं।

जब हम किसी जीवको दुखी करने-सताने पीड़ा देने का विचार करते हैं उसी समय हमारे भावोंमें और वचन-कायकी प्रवृत्तिमें एक प्रकारकी विकृति आ जाती है, जिससे हृदयमें अशान्ति और शरीरमें बेचैनी उत्पन्न होती रहती है और जो आत्मिक शान्तिके विनाशका कारण है, इसी प्रकारके प्रयत्नावेशको अथवा तज्जन्य संकल्प विशेषको संरम्भ कहते हैं †। पश्चात्

---

*प्रमत्त योगात्प्राण व्यपरोणं हिंसा।

—तत्त्वार्थसूत्रे, उमास्वातिः

यस्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः

†'संरंभो संकप्पो' —भ०आराधनायां, शिवार्यः ८१२।

प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरंभः।

—सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८।

प्राणव्यपरोणादौ प्रमादवतः प्रयत्नः संरंभः।

—विजयोदयां, अपराजितः गा० ८११

अपनी कुत्सित चित्तवृत्तिके अनुकूल उस प्राणिको दुखी करनेके अनेक साधन जुटाये जाते हैं; मायाचारी से दूसरोंको उसके विरुद्ध भड़काया जाता है, विश्वास-घात किया जाता है—कपटसे उसके हितैषी मित्रोंमें फूट डाली जाती है–उन्हें उसका शत्रु बनानेकी चेष्टा की जाती है, इस तरहसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने रूप व्यापारके साधनोंको संचित करने तथा उनका अभ्यास बढ़ानेको समारम्भ कहा जाता है×। फिर उस साधन-सामग्रीके सम्पन्न हो जाने पर उसके मारने या दुखी करनेका जो कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है उस क्रिया को आरम्भ कहते हैं ‡। ऊपरकी उक्त दोनों क्रियाएँ तो भावहिंसाकी पहली और दूसरी श्रेणी हैं ही, किन्तु तीसरी आरम्भक्रियामें द्रव्य-भाव रूप दोनों प्रकारकी हिंसा गर्भित है, अतः ये तीनों ही क्रियाएँ हिंसाकी जननी हैं। इन क्रियाओंके साथमें मन वचन तथा काय की प्रवृत्तिके संमिश्रणसे हिंसाके नव प्रकार हो जाते हैं और कृत–स्वयं करना, कारित–दूसरोंसे कराना, अनु-मोदन–किसी को करता हुआ देखकर प्रसन्नता व्यक्त करना, इनसे गुणा करने पर हिंसाके २७ भेद होते हैं।

× **परिदावकदो हवे समारम्भो ॥**

—भग० आराधनायां, शिवार्यः ८१२

साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः ।

—सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८ ।

साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारंभः ।

—विजयोदयायां, अपराजितः, गा० ८११ ।

‡ **आरंभो उद्दवओ,**

—भ० आराधनायां शिवार्यः, ८१२ ।

प्रक्रमः आरम्भः । —सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः ६, ८ ।

संचितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरंभः ।

विजयोदयायां; अपराजितः, गा० ८११

चूँकि ये सब कार्य क्रोध, मान, माया, अथवा लोभके वश होते हैं। इसलिये हिंसाके सब मिला कर स्थूलरूप से १०८ भेद हो जाते हैं। इन्हींके द्वारा अपनेको तथा दूसरे जीवोंको दुःखी या प्राणरहित करनेका उपक्रम किया जाता है। इसीलिये इन क्रियाओंको हिंसाकी जननी कहते हैं। हिंसा और अहिंसाका जो स्वरूप जैन ग्रन्थोंमें बतलाया गया है, उसे नीचे प्रकट किया जाता है—

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते त्रसस्थावराङ्गिनाम् ।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्य-भावस्वभावकाः ॥

—अनगारधर्मामृते, आशाधरः ४, २२

अर्थात्—क्रोध-मान-माया और लोभके आधीन हो कर अथवा अयत्नाचारपूर्वक मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे त्रसजीवोंके—पशु पक्षी मनुष्यादि प्राणियोंके—तथा स्थावर जीवोंके—पृथ्वी, जल, हवा और वनस्पति आदिमें रहने वाले सूक्ष्म जीवोंके—द्रव्य और भाव प्राणोंका घात करना हिंसा कहलाता है। हिंसा नहीं करना सो अहिंसा है अर्थात् प्रमाद व कषायके निमित्तसे किसी भी सचेतन प्राणीको न सताना, मन वचन-कायसे उसके प्राणोंके घात करनेमें प्रवृत्ति नहीं करना न कराना और न करते हुएको अच्छा समझना 'अहिंसा' है। अथवा—

रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिदं समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥

—सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादेन उद्धृतः ।

अर्थात्—आत्मामें राग-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्ति नहीं होने देना 'अहिंसा' है और उन विकारोंकी आत्मामें उत्पत्ति होना 'हिंसा' है। दूसरे शब्दोंमें इसे इस रूपमें कहा जा सकता है कि आत्मामें जब राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया और लोभादि विकारोंकी उत्पत्ति होती है तब ज्ञानादि रूप आत्मस्वभावका घात हो जाता है इसीका नाम भाव हिंसा है और इसी भाव हिंसासे—

आत्म परिणामोंकी विकृतिसे—जो अपने अथवा दूसरोंके द्रव्यप्राणोंका घात हो जाता है उसे द्रव्यहिंसा कहते हैं।

हिंसा दो प्रकारसे की जाती है—कषायसे और प्रमादसे। जब किसी जीवको क्रोध, मान, माया और लोभादिके कारण या किसी स्वार्थवश जान बूझकर सताया जाता है या सताने अथवा प्राणरहित करनेके लिये कुछ व्यापार किया जाता है उसे कषायसे हिंसा कहते हैं। और जब मनुष्यकी आलस्यमय असावधान एवं अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिसे किसी प्राणीका वधादिक हो जाता है तब वह प्रमादसे हिंसा कही जाती है। इससे इतनी बात और स्पष्ट हो जाती है कि यदि कोई मनुष्य बिना किसी कषायके अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे करता है उस समय यदि दैवयोगसे अचानक कोई जीव आकर मर जाय तो भी वह मनुष्य हिंसक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस मनुष्यकी प्रवृत्ति कषाययुक्त नहीं है और न हिंसा करनेकी उसकी भावना ही है। यद्यपि द्रव्यहिंसा जरूर होती है परन्तु तो भी वह हिंसक नहीं कहा जा सकता, और न जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा कहता है। हिंसात्मक परिणति ही हिंसा है, केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहलाती, द्रव्यहिंसाको तो भावहिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहा जाता है। वास्तवमें हिंसा तब होती है जब हमारी परिणति प्रमादमय होती है अथवा हमारे भाव किसी जीवको दुःख देने या सतानेके होते हैं। जैसे कोई समर्थ डाक्टर किसी रोगीको नीरोग करनेकी इच्छासे ऑपरेशन करता है और उसमें दैवयोगसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो वह डाक्टर हिंसक नहीं कहला सकता, और न हिंसाके अपराधका भागी ही हो सकता है। किन्तु यदि डाक्टर लोभादिके वश जान बूझकर मारनेके इरादे से ऐसी क्रिया करता है जिससे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो ज़रूर वह हिंसक कहलाता है और दण्डका भागी भी होता है। इसी बातको जैनागम स्पष्ट रूपसे यों घोषणा करता है:—

उच्चालदम्मिपादे इरियासमिद स्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिङ्गो मरेज्जतं जोगमासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये।

—सर्वार्थसिद्धौ पूज्यपादेन उद्धृतः

अर्थात्—जो मनुष्य देख भालकर सावधानीसे मार्ग पर चल रहा है उसके पैर उठाकर रखने पर यदि कोई जन्तु अकस्मात् पैरके नीचे आ जाय और दब कर मर जाय तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता है।

जो मनुष्य प्रमादी है—अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है—उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हुई है तो भी वह '**प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः**' के वचनानुसार हिंसक अवश्य है—उसे हिंसाका पाप ज़रूर लगता है। यथा—

मरदु वो जीयदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

—प्रवचनसारे कुन्दकुन्दः ३, १७

अर्थात्—जीव चाहे मरे, अथवा जीवित रहे, असावधानीसे काम करने वालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है, किंतु जो मनुष्य यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे अपनी प्रवृत्ति करता है उससे प्राणि-वध हो जाने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता—वह हिंसक नहीं कहला सकता, क्योंकि भावहिंसाके बिना कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहला सकती।

सकषायी जीव तो पहले अपना ही घात करता है, उसके दूसरोंकी रक्षा करनेकी भावना ही नहीं होती। वह तो दूसरोंका घात होनेसे पहले अपनी कलुषित

चित्तवृत्तिके द्वारा अपना ही घात करता है, दूसरे जीवों का घात होना न होना उनके भवितव्यके आधीन है*।

हिंसा दो प्रकारकी होती है एक अन्तरंग हिंसा और दूसरी बहिरंग हिंसा। जब आत्मामें ज्ञानादि रूप भाव प्राणोंका घात करने वाली अशुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है तब वह अंतरंग हिंसा कहलाती है। और जब जीवके बाह्य द्रव्यप्राणोंका घात होता है तब बहिरंग हिंसा कहलाती है। इन्हींको दूसरे शब्दोंमें द्रव्यहिंसा और भाव हिंसाके नामसे भी कहते हैं। यदि तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो सचमुचमें हिंसा क्रूरता और स्वार्थकी पोषक है। मनुष्यका निजी स्वार्थ ही हिंसाका कारण है। जब मनुष्य अपने धर्मसे च्युत हो जाता है तभी वह स्वार्थवश दूसरे प्राणियोंको सतानेकी चेष्टा किया करता है; आत्मविकृतिका नाम हिंसा है और उसका फल दुःख एवं अशान्ति है। और आत्मस्वभाव का नाम अहिंसा है तथा सुख और शान्ति उसका फल है अर्थात् जब आत्मामें किसी तरहकी विकृति नहीं होती चित्त प्रशान्त एवं प्रसादादि गुणयुक्त रहता है उसमें क्षोभकी मात्रा नज़र नहीं आती, उसी समय आत्मा अहिंसक कहा जाता है। द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है उसे तो भाव हिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहते हैं, वास्तवमें द्रव्यहिंसा तो भावहिंसासे जुदी ही है। यदि द्रव्यहिंसाको भावहिंसासे अलग न किया जाय तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता, और इस तरहसे तो शुद्ध वीतराग-परिणति वाले साधु महात्मा भी हिंसक कहे जाँयगे; क्योंकि पूर्ण अहिंसाके पालक योगियोंके शरीरसे भी सूक्ष्म वायुकायिक आदि जीवोंका वध होता ही है, जैसा कि आगमकी निम्न प्राचीन गाथासे स्पष्ट है:—

जदि सुद्धस्स य बंधो होदि बाहिरवत्थुजोगेण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु॥

विजयोदयायां—अपराजितः—६। ८०६

हिंसा और अहिंसाके इस सूक्ष्म विवेचनसे जैनी अहिंसाके महत्वपूर्ण रहस्यसे अपरिचित बहुतसे व्यक्तियोंके हृदयमें यह कल्पना होजाती है कि जैनी अहिंसा का यह सूक्ष्मरूप अव्यवहार्यहै—उसे जीवनमें उतारना नितान्त कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतएव इसका कथन करना व्यर्थ ही है। यह उनकी समझ ठीक नहीं है; क्योंकि जैनशासनमें हिंसा और अहिंसाका जो विवेचन किया गया है वह अद्वितीय है, उसमें अल्पयोग्यतावाले पुरुष भी बड़ी आसानीके साथ उसका अपनी शक्तिके अनुसार पालन कर सकते हैं और अपने को अहिंसक बना सकते हैं। साथ ही, जैनधर्ममें अहिंसाका जितना सूक्ष्मरूप है वह उतना ही अधिक व्यवहार्य भी है। इस तरहका हिंसा और अहिंसाका स्पष्ट विवेचन दूसरे धर्मोंमें नहीं पाया जाता, इसलिये उसका जैनधर्मकी अहिंसाके आगे बहुत ही कम महत्व जान पड़ता है।

जैनशासनमें किसीके द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुःखी किये जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सब जगह जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं, परन्तु फिर भी, जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता; क्योंकि जैनधर्म तो भावप्रधान धर्म है इसीलिये जो दूसरोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता प्रत्युत उनके बचानेके भाव रखता है उससे दैववशात् सावधानी करते हुए भी यदि किसी जीवके द्रव्य प्राणोंका वध होजाता है तो उसे हिंसाका पाप नहीं

* स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यंतराण्यान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥
—सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत, पृ०२३१

लगता। यदि हिंसा और अहिंसाको भाव प्रधान न मान जाय तो फिर बंध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैसे कि कहा भी है—

विश्वग्जीवचिते लोके क्व चरन कोप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥

—सागारधर्मामृत; ४, २३

अर्थात्—जब कि लोक जीवोंसे खचाखच भरा हुआ है तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर ही निर्भर न होते तो कौन पुरुष मोक्ष प्राप्त कर सकता? अतः जब जैनी अहिंसा भावोंके ऊपर ही निर्भर हैं तब कोई भी बुद्धिमान पुरुष जैनी अहिंसाको अव्यवहार्य नहीं कह सकता।

अब मैं पाठकोंका ध्यान इस विषयकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि जिन्होंने अहिंसा तत्वको नहीं समझकर जैनी अहिंसापर कायरताका लाँछन लगाया है उनका कहना नितान्त भ्रममूलक है।

अहिंसा और कायरतामें बड़ा अन्तर है। अहिंसाका सबसे पहला गुण आत्मनिर्भयता है। अहिंसामें कायरता को स्थान नहीं। कायरता पाप है, भय और संकोचका परिणाम है। केवल शस्त्र संचालनका ही नाम वीरता नहीं है किन्तु वीरता तो आत्माका गुण है। दुर्बल शरीरसे भी शस्त्रसंचालन हो सकता है। हिंसक वृत्तिसे या माँसभक्षणसे तो क्रूरता आती है, वीरता नहीं; परंतु अहिंसासे प्रेम, नम्रता, शान्ति, सहिष्णुता और शौर्यादि गुण प्रकट होते हैं।

दुर्बल आत्माओंसे अहिंसाका पालन नहीं हो सकता उनमें सहिष्णुता नहीं होती। अहिंसाकी परीक्षा अत्याचारीके अत्याचारोंका प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य रखते हुए भी उन्हें हँसते हँसते सहलेनेमें है;किन्तु प्रतीकारकी सामर्थ्यके अभावमें अत्याचारीके अत्याचारोंको चुपचाप अथवा कुछ भी विरोध किये बिना सहलेना कायरता है—पाप है—हिंसा है। कायर मनुष्यका आत्मा पतित होता है, उसका अन्तःकरण भय और संकोचसे अथवा शंका से दबा रहता है। उसे आगत भयकी चिन्ता सदा व्याकुल बनाये रहती है—मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके विनाश होनेकी चिन्तासे वह सदा पीड़ित एवं सचिन्त रहता है। इसीलिये वह आत्मबल और मनोबलकी दुर्बलताके कारण—विपत्ति आनेपर अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता है। परंतु एक सम्यग्दृष्टि अहिंसक पुरुष विपत्तियोंके आनेपर कायर पुरुषकी तरह घबराता नहीं और न रोता चिल्लाता ही है किन्तु उनका स्वागत करता है और सहर्ष उनको सहनेके लिये तैय्यार रहता है तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसारउनका धीरतासे मुकाबिला करता है—प्रतीकार करता है—उसे अपने मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके समूल विनाश होनेका कोई डर ही नहीं रहता, उसका आत्मबल और मनोबल कायर मनुष्यकी भाँति कमज़ोर नहीं होता, क्योंकि उसका आत्मा निर्भय है—सप्तभयोंसे रहित है। जैनसिद्धान्तमें सम्यग्दृष्टिको सप्तभय-रहित बतलाया गया है *। साथ ही, आचार्य अमृतचन्द्रने तो उसके विषय में यहाँतक लिखा है कि यदि त्रैलोक्यको चलायमान कर देनेवाला वज्रपात आदिका घोर भय भी उपस्थित होजाय तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक एवं निर्भय रहता है—वह डरता नहीं है। और न अपने ज्ञानस्वभावसे च्युत होता है, यह सम्यग्दृष्टिका ही साहस है। इससे स्पष्ट है कि आत्म निर्भयी—धीर—वीर पुरुष ही सच्चे अहिंसक हो सकते हैं, कायर नहीं। वे तो ऐसे घोर भयादिके

* **सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।**
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥
समयसारे, कुन्दकुन्द २२८;

आनेपर भयसे पहले ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं। फिर भला ऐसे दुर्बल मनुष्योंसे अहिंसा जैसे गम्भीर तत्त्वका पालन कैसे हो सकता है? अतः जैनी अहिंसापर कायरताका इल्ज़ाम लगाकर उसे अव्यवहार्य कहना निरी अज्ञानता है।

जैन शासनमें न्यूनाधिक योग्यतावाले मनुष्य अहिंसाका अच्छी तरहसे पालन कर सकते हैं, इसीलिये जैनधर्ममें अहिंसाके देशअहिंसा और सर्वअहिंसा अथवा अहिंसा-अणुव्रत और अहिंसा-महाव्रत आदि भेद किये गये हैं। जो मनुष्य पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें असमर्थ है, वह देश अहिंसाका पालन करता है, इसीसे उसे गृहस्थ, अणुव्रती, देशव्रती या देशयतीके नामसे पुकारते हैं; क्योंकि अभी उसका साँसारिक देह-भोगोंसे ममत्व नहीं छूटा है—उसकी आत्म शक्तिका पूर्ण विकास नहीं हुआ है—वह तो असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, विद्यारूप षट् कर्मोंमें शक्त्यानुसार प्रवृत्ति करता हुआ एकदेश अहिंसाका पालन करता है। गृहस्थ-अवस्थामें चार प्रकारकी हिंसा संभव है। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमेंसे गृहस्थ सिर्फ एक संकल्पी हिंसा-मात्रका त्यागी होता है और वह भी त्रस जीवों की। जैन आचार्योंने हिंसाके इन चार भेदों को दो भेदोंमें समाविष्ट किया है और बताया है, कि गृहस्थ-अवस्थामें दो प्रकारकी हिंसा हो सकती है, आरम्भजा और अनारम्भजा। आरम्भजा हिंसा कूटने, पीसने आदि गृहकार्योंके अनुष्ठान और आजीविकाके उपार्जनादिसे सम्बन्ध रखती है; परन्तु दूसरी हिंसागृही कर्तव्यका यथेष्ट पालन करते हुए मन-वचन-कायसे होने वाले जीवोंके घातकी ओर संकेत करती है। अर्थात् दो इंद्रियादि त्रसजीवोंको सँकल्पपूर्वक जान बूझकर सताना या जानसे मारना ही इसका विषय है, इसीलिये इसे संकल्पी हिंसा कहते है। गृहस्थ अवस्थामें रहकर आरम्भजा हिंसाका त्याग करना अशक्य है। इसीलिये जैन ग्रन्थोंमें इस हिंसाके त्यागका आमतौरपर विधान नहीं किया है * परन्तु यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेकी ओर संकेत अवश्य किया है जो कि आवश्यक है; क्योंकि गृहस्थ अवस्थामें ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसमें हिंसा न होती हो। अतः गृहस्थ सर्वथा हिंसाका त्यागी नहीं हो सकता। इसके सिवाय, धर्म-देश-जाति और अपनी तथा अपने आत्मीय कुटम्बी जनोंकी रक्षा करने में जो विरोधी हिंसा होती है उसका भी वह त्यागी नहीं हो सकता।

जिस मनुष्यका साँसारिक पदार्थोंसे मोह घट गया है और जिसकी आत्मशक्ति भी बहुत कुछ विकास प्राप्त कर चुकी है वह मनुष्य उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग कर जैनी दीक्षा धारण करता है और तब वह पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें समर्थ होता है। और इस तरह से ज्यों ज्यों आत्म-शक्तिका प्राबल्य एवं उसका विकास होता जाता है त्यों त्यों अहिंसाकी पूर्णता भी होती जाती है। और जब आत्माकी पूर्णशक्तियोंका विकास होजाता है, तब आत्मा पूर्ण अहिंसक कहलाने लगता है। अस्तु, भारतीय धर्मोंमें अहिंसाधर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाला पुरुष परमब्रह्म परमात्म कहलाता है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने अहिंसाको परब्रह्म कहा है *। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम जैन शासनके अहिंसातत्त्वको अच्छी तरहसे समझें और उसपर अमल करें। साथ ही, उसके प्रचारमें अपनी सर्वशक्तियोंको लगादें, जिससे जनता अहिंसाके रहस्यको समझे और धार्मिक अन्धविश्वाससे होनेवाली घोर हिंसाका—राक्षसी कृत्यका—परित्यागकर अहिंसाकी शरणमें आकर निर्भयतासे अपनी आत्मशक्तियोंका विकास करनेमें समर्थ हो सके।

वीर सेवामन्दिर, सरसावा, जि० सहारनपुर

---

* हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतोदद्धैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते ताँ च॥

गृहवास सेवन रतो मन्द कषाया प्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियमात्॥
श्रावकाचारे, अमितगतिः, ६, ६, ७

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तस्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥ ११६
वृहत्स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः।

मनुष्य जातिके महान् उद्धारक

[ले०-श्री बी. एल. सराफ़, बी. ए. एलएल. बी, वकील, सागर]

समाजके तत्कालीन हवन-कुण्डकी प्रचण्ड हुताशन तो नरमेधके वास्ते भी तैयार थी। यज्ञके अनर्थकारों-टीकाकारोंने गीताकी ओर आँख उठाकर देखनेकी आवश्यकता तक नहीं समझी। मूक जीवोंके कलेवरसे ही सन्तुष्ट होनेकी भावना तब अपनी चरम सीमा पर थी। वैशाली, मल्ल, शाक्य, कौशल, मगध और मिथिला जैसे गण राज्यों तथा प्रजातन्त्र शासनोंके होते हुए भी समाजका वैषम्य सामने था। मनुष्यको हृदय लगानेमें बाधाभूत अपनेको श्रेयस्कर समझनेवाले प्राणियोंकी अमृत भावना उद्दण्डतासे सिर उठाये हुए थी। सत्यता के ऊपर आवश्यकतासे अधिक आवरण था, जो उसे प्रकाशित ही नहीं होने देता था। सब इस ढकी हुई आडम्बरित वस्तुको ही नमन करने लग गये थे। सत्यता और मोक्षकी ओर दौड़ लगानेवाले अपनी धुनमें मस्त थे। केवल तपस्या ही मोक्ष सम्पादन भले ही न करा सके, निरा ज्ञान भी भले ही उस अनन्त के साथ संबंध जोड़नेको पर्याप्त न हो, केवल दृश्यमान, खोखली भक्ति और चन्दन-चर्चन भी अक्षय सत्यके साथमें साक्षात् करानेमें समर्थ न हो, जीवोंके प्राणपर पैर रख उनके अस्थि-माँससे पुष्ट तथा समृद्धिशाली होनेकी वासना भले ही अमोक्ष-कर हो, पर अपनी दौड़ कम करके खड़े हो पीछे देखनेका इन धावकोंको अवकाश नहीं था यदि ऐसे समयमें प्रकृतिने स्वतः त्रस्त हो अवतारके लिये आवाज उठाई तो स्वाभाविक ही था। यदि प्रकृति की पुकार पर त्रिशला-नन्दन और शुद्धोदन-कुमारके दर्शनोंने कुण्डग्राम और कपिल वस्तुकी त्रासोन्मुखी प्रजा को पुनीत किया तो क्या आश्चर्य ?

आत्मान्वेषण तथा सत्यान्वेषणके दुर्गम पथके उभय पथिक विघ्न बाधाओंके बीचमें भी अपनेको भूले नहीं। यद्यपि थोड़ा अन्तर भले ही रहा, एकने तात्कालिक मात्रा-द्वारा चिकित्साकी तो दूसरेने शाश्वतिक प्रयोगों का उपयोग किया। एक यदि अतिवर्त्य पथानुगामी हुए तो दूसरे 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' पर चलकर वहाँ जनसमूहको ले जानेमें प्रयत्नशील हुए। विश्वको दुःखोंसे छुड़ानेका दोनोंने निष्कपट प्रयास किया। एकने यदि अचेल ब्रह्मचर्य व्रतधारण द्वारा मानवजीवनकी अन्तिम दुर्बलताको तिलाँजली देदी और उसपर विजयी हुए तो दूसरेने उनके शरीरपर होते हुए भी उसमें सम्मोहको स्थान नहीं दिया। एकने व्यवहारको भी अप्रधान बताते हुए मनसाकृत कर्ममें ही हिंसा देखी तो दूसरेने मन्शाके पैमानेको तिरस्कृत करते हुए कार्यफल-मात्रमें हिंसा देखी।

निविड़ आकुलित तिमिरके युगके अवसानके बाद प्रभात-परी उषाने जगद्वन्द्य सिद्धार्थ सुत के अवतरित होनेपर अपने मुखारविन्दपर प्रसन्नता प्राप्त लालिमा प्रदर्शित की तो क्या आश्चर्य ? यदि इन विभूतियोंके सिद्धान्तों और कृतियोंने विश्वविजय की तो क्या आश्चर्य ?

भगवान् सिद्धार्थ-कुलभानु न केवल अहिंसाके ब्रह्मास्त्रको लेकर अवतीर्ण हुए थे किन्तु जीवमात्रकी समानताको प्रत्यक्षीभूत कराने आये थे। विचार-वैषम्य द्वारा होनेवाले विरोधके शमनको स्याद्वाद जैसी विभूति के साथ भगवानने दर्शन दिया था।

भगवान वर्धमानका अहिंसा और विश्वशाँतिका पाठ अज्ञान और क्लैव्यके छिपानेका विधान नहीं था। उसका जन्म नाथवंशी युद्ध वीर क्षत्रियकुल-पुंगवके परीक्षित और विक्रान्त हृदयमें हुआ था।

वीर जिनेन्द्रकी तपोपूत आत्माने वास्तवमें इन्द्रभूत, वायुभूत, अग्निभूत जैसे गणधरों श्रेणिक-बिम्बसार और अंगेश कुणिक-अजात-शत्रु, कौशल-रक्षक प्रसेनजित जैसे नरेशोंके ही नहीं किन्तु जेष्ठा, चन्दना, चेलना जैसी धर्मांगनाओंके हृदयोंको भी आलोड़ित किया था और विश्वशांति तथा भ्रातृत्व फैलानेको दीक्षित किया था।

"न गच्छेज्जैनमन्दिरम्"के शमन करनेकी शक्ति सौम्यमूर्ति जिनराज तुम्हारे हाथमें ही है, अर्थवादकी ओर क्षिप्रगतिसे दौड़नेवाले संसारको रुकाये बग़ैर विश्व कल्याण हो ही नहीं सकता, पर इसका सेहरा तुम्हारे जैसे सिरोंपर ही बाँधा जा सकता है। सिद्धान्तोंके दिग्विजयकी वाँछा जिनके हृदयोंमें उद्वेलित रहती है उनका शौर्य्य आजकलकी जैन समाजमें प्राप्त कराना तुम्हारी ही कृपापर अवलम्बित है।

भगवन्! तुम्हारे द्वारा प्रचारित धर्ममें भगवान् बुद्धकी प्रश्न-अवहेलना वा अपलापको स्थान नहीं। प्रभु ईसाकी दया तुम्हारी जैसी तपस्याओंमें निष्णात नहीं। वस्तुनिरूपणमें बात बातमें युद्ध होनेकी आवश्यकताको तुम्हारे सापेक्ष-वादने सदाके लिये दूर कर दिया। प्राणीमात्रसे जहाँ भ्रातृत्व हो सकता है वहाँ राष्ट्रकी स्वातन्त्र्यलिप्सा और एक उद्देश्याधिकृत बन्धुत्व का प्रश्न उठानेकी आवश्यकता नहीं, वह तो स्वभावसे ही उसमें गर्भित है किन्तु वहाँ राजनीतिकी ग्रंथियाँ खोलनेवाला कर्मयोगी गाँधीत्व नहीं।

असिधारी हाथ कृपाणरिक्त होते हुए भी विश्व नायकत्व सफलतापूर्वक कर सकते हैं, इसके तुमसे बढ़कर और कौन जीवित उदाहरण हो सकता है? निरतिशय-क्राँतिके युवराजका हृदय इतनी अबाधशाँतिसे शासित हो यह भारतवर्षके ही भाग्य और जलवायुकी विचित्रता है।

क्षत्रियके नृशंस, दयाविहीन और कर्कश हृदयसे विश्वशाँतिकी कल्लोल प्राणीदयाका अविरल श्रोत, राज्यलिप्सासे ओतप्रोत वक्षस्थलसे मानवसमताकी आवाज अपञ्चेन्द्रिय जीवोंको भी उद्धारका संदेश, कैसा विचित्र विरोध है।

तुम्हारे सुन्दर शरीर सम्पत्ति-युत नव-हृदयमें रूक्ष तथा भयंकर तपनिगृहीत किन्तु स्वभाव-सरल आत्मसंयम है। देवाँगनाओंके मधुर हास्य तथा प्रलोभनोंमें भी मदनपर रुष्ट हो उसे दहन करनेको शिवशक्तिकी आवश्यकता नहीं। बिना भोग तथा तलवारके मदनविजय ही नहीं, विश्वविजय करनेवाले अतिवीरको क्यों न बोधिसत्व आदरकी दृष्टिसे देखते? कुसीनाराके निर्माण पथगामी समवयस्क तथा गतऋषिने यदि तुम्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहकर विभूषित किया तो इससे अधिक बुद्धभगवान् जैसे आपके प्रति और क्या कह सकते थे? हृदयोंको द्रवित करनेवाले और बरबस आँसू बहा देनेवाले उपसर्गोंके बीचमें भी शाँति और क्षमाके अविचल अवतार यदि तुम्हारी तपस्या पूर्ववत् बनी रही तो क्या आश्चर्य? यदि विश्वके सबसे बड़े शाँतिके अवतार कहकर तुम्हारा आवाहन किया जाय तो क्या अत्युक्ति?

तुम्हारे अखण्ड ब्रह्मचर्यने यदि देवाँगनाओंको लज्जित् किया तो तुम्हारे चरित्रकी पवित्रताकी और कौनसी साक्षीकी आवश्यकता ? समकालीन दो महर्षियोंमें केवल दुर्धर्ष तथा निष्कलंक तपस्या ही तुमको समवसरणमें आकाश आसन दिलानेको पर्याप्त थी। तुम्हारे पंच कल्याणकोंमें यदि दैवी हर्ष न हो तो और किन आत्माओंके आगमनमें आनन्द दुंदुभि निनादित की जावेगी।

तुम्हारे अहिंसा और त्यागव्रतने यदि शेर बकरीको एक घाट पानी पिला दिया और समवशरणमें खिरनेवाली वाणीका लाभ देकर उन्हें मोक्षोन्मुख बनाया तो इसमें क्या आश्चर्य ? बाल-सुलभ लीलामें ही मदमत्त कुंजरको वशंवद किया और तत्वज्ञानके सिंहनाद-द्वारा यदि अभयताका संदेश प्राणिमात्रको तुमने भेजा तब वनराजके चिन्ह-द्वारा तुम्हारे संकेकित होनेमें क्या अनौचित्य। तुम्हारे सिंह गर्जनमें माँस-भोजी जीवकी भक्षण प्राप्त आनन्द लिप्साका दम्भ नहीं, वहाँ प्राणियोंको भयभीत करनेका घोर निनाद नहीं। तुमने वास्तवमें सिंहके नाममें पवित्रता लादी, जिसके बिना सिंहके रूपमें मोहकता ही नहीं, उसके सामने हंसते२ अपनेको मिटा देनेकी इच्छा ही नहीं हो सकती। तुम भले ही धर्मके आदि संस्थापक न हो पर जिस अमर स्फूर्तिके तुम पिता हो, वह अमर स्फूर्ति तो तुम्हें आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवके पास तक बरबस पहुँचा देती है।

तुम्हारी तपस्या द्वारा दिलायेगये अधिकार छिनाये जाने लगे—तुम्हारे द्वारा खोले गये मोक्षद्वार अब फिर मुंदने लगे। मनुष्योंके हृदयोंमें फिर वही संकुचित चित्तता वास करने लगी—प्रचार और विकाशका फिर रत्न-खचित मन्दिरोंके बाहिर आनेमें शंकित होने लगा नारिजातिके प्रति तुम्हारी पवित्र और सम्मान भावना का दुरुपयोग-काम-लिप्सा तृप्तिके रूपमें पुरुष और स्त्री समाजको न जाने किस बीहड़ पथकी ओर ले जा रहा है। मनुष्यको मनुष्य माननेकी रसायन तुम्हींतक परिमित थी, आत्मवादकी फिर अनावश्कता प्रतीत होने लगी और द्रव्यवादका सिंहासन फिर दृढ़ होने लगा ! जब कि अदृव्यवान सतृष्णा नेत्रोंसे केवल जीवन-धारणार्थ भोजनोंके लिये हाथ फैलाये सामने खड़े हुए हैं। अहिंसाका असलीरूप फिर अनुकरणीय कहा जाने लगा बुद्ध भगवान्की मृतमाँस-भक्षण मीमाँसामें फिर मोहकता आने लगी।

महानिर्वाणके समय पावापुरीमें छोड़ी गई तुम्हारी प्रतिनिधि ज्योति इस युगको आलोकित न कर सकी। तुम्हारे उपसर्गों पर आंसू बहा देनेवाले यदि साधारण परिषदोंसे भागनेका प्रयत्न करनेलगे तो तुम्हें आमन्त्रित करनेका और कौन अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है ?

अतएव हे वीतराग ! हे विश्वशाँति, अहिंसा, भ्रातृत्व, और सत्यशोधमें अग्रणी तथा सामाजिक शाँति के जनक मुक्तदेव दूत ! हे गरीबों और पतितोंकी सम्पत्ति ? हे त्रिशला-त्रासत्राता ! इस पुण्यभूमिको अपने पुनीत पदरज चूमनेका फिर अवसर दो।

हरिभद्र-सूरि

[ले० पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

(गत किरण से आगे)

जीवन-सामग्री और तत्मीमाँसा

भारतीय साहित्यकारोंके पवित्र इतिहासमें यह एक दुःखद घटना है कि उनका विश्वनीय और वास्तविक जीवन-चरित्र नहींके बराबर ही मिलता है। इसका कारण यही है कि प्राचीन कालमें आत्मकथा लिखनेकी प्रणाली नहीं थी, और आत्मश्लाघासे दूर रहने की इच्छाके कारण अपने सम्बन्धमें अपने ग्रन्थोंमें भी लिखना नहीं चाहते थे। कुछेक साहित्यकारोंने अपनी कृतियोंमें प्रशस्तिरूपसे थोड़ा सा लिखा है; किन्तु उससे जन्म-स्थान, गुरु-नाम, माता पिता-नाम, एवं स्व-गच्छ आदिके नामका सामान्य ज्ञान-मात्र ही हो सकता है, विस्तृत नहीं। पीछेके साहित्यकारोंने प्राचीन-साहित्यकारोंके सम्बन्धमें इतिहासरूपसे लिखनेका प्रयास किया है; किन्तु उसमें इतिहास-अंश तो अति स्वल्प है और किंवदन्तियाँ एवं कवि-कल्पना ही अधिक परिमाणमें है। यह सिद्धान्त केवल जैन साहित्यकारोंके सम्बन्धमें ही नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्यकारोंके सम्बन्धमें पाया जाता है।

"जिन-शासनकी अधिकाधिक प्रभावना हो;" इसी एक उद्देश्यने संग्रहकारोंको किंवदन्तियों और कवि-कल्पनाओंकी ओर वेगसे प्रवाहित किया है। इसके साथ २ काल व्यवधानने भी इतिहास-सामग्रीको नष्ट-प्रायः कर दिया; और इसीलिये उन्हें प्रभावनाके ध्येयकी पूर्तिके लिये अवशिष्ट चरित्र-सामग्रीके बलपर तथा किंवदन्तियों और कवि कल्पनोंके सहारे ही तथा कथित इतिहासोंकी रचना करनी पड़ी। वर्तमान कालीन इतिहासकारोंको भी उन्हीं तथा कथित इतिहासों, उपलब्ध कृतियों, और अस्तव्यस्तरूपसे पाये जानेवाले उद्धरणोंके आधारसे ही चरित्र-चित्रण करना पड़ रहा है।

चरित्र-नायक हरिभद्र सूरिकी जीवन-सामग्री भी उपर्युक्त निष्कर्षके प्रति अपवादस्वरूप नहीं है। हरिभद्र सूरिकी जीवन-सामग्री वर्तमानमें इतनी पाई जाती है:—

(१) श्री मुनिचन्द्र सूरिने संवत् ११७४ में श्री हरिभद्र सूरि कृत उपदेशपदकी टीकाके अन्तमें इनके जीवनके सम्बन्धमें अति संक्षेपात्मक उल्लेख किया है।

(२) संवत् १२९५ में श्री सुमतिगणिने गणधर-सार्धशतककी बृहद् टीकामें भी इनके सम्बन्धमें कुछ थोड़ा सा लिखा है।

(३) भद्रेश्वर सूरि कृत २३८०० श्लोक परिमाण प्राकृत कथावलीमें भी हरिभद्र सूरिके सम्बन्धमें कुछ परिचय मिलता है। श्री जिनविजयजीका कहना है कि इसका प्रणयन बारहवीं शताब्दीमें हुआ होगा।

(४) संवत् १३३४ में श्री प्रभाचन्द्र सूरि द्वारा विरचित प्रभावक चरित्रमें चरित्र नायकके सम्बन्धमें विस्तृत काव्यात्मक पद्धतिसे जीवन कथा पाई जाती है।

(५) संवत् १४०५ में श्री राजशेखर सूरि द्वारा निर्मित प्रबन्ध कोषमें भी प्रभावक चरित्रके समान ही अति विस्तृत जीवन चरित्र पाया जाता है।

इसी प्रकार इसी प्राचीन सामग्रीके आधारपर कुछ नवीन जीवन सामग्रीका भी निर्माण हुआ है; उसमेंसे पं० हरगोविन्ददासजी कृत 'श्री हरिभद्र सूरि चरित्र', पं० बेचरदासजी द्वारा लिखित 'जैन दर्शनकी विस्तृत भूमिका', श्री जिनविजयजी लिखित "हरिभद्र सूरिका समय निर्णय" और प्रोफेसर हरमन जेकोबी द्वारा लिखित "समराइच्चकहा कि भूमिका" आदि रचनाएँ भी मुख्य हैं। इसी सामग्रीके आधारपर मैं अब श्री हरिभद्र सूरिका चरित्र-निर्णय करनेका प्रयास करता हूँ और उसपर कुछ निष्कर्षात्मक मीमाँसा भी करनेका प्रयास करूँगा।

प्रारम्भिक-परिचय

भारतीय राजनैतिक इतिहासमें मेवाड़का महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण स्थान है। इसी पवित्र भूमिपर महाराणा हमीरसिंह, महाराणा लक्ष्मणसिंह, महाराणा संग्रामसिंह और महाराणा प्रतापसिंह सदृश शूरवीर एवं नररत्न भामाशाह सरीखे पुरुष-पुंगव उत्पन्न हुए हैं। हमारे चरित्रनायक हरिभद्रकी जन्ममूमि भी मेवाड़ ही है। कहा जाता है कि चित्तौड़ ही आपका जन्म स्थान है। तत्कालीन चित्तौड़ नरेश जितारिके हरिभद्र पुरोहित थे। इस प्रकार आप जातिसे ब्राह्मण और कर्मसे पुरोहित थे। ये चौदह विद्याओंमें निपुण और अजातप्रतिवादी थे। इसीलिये राज-प्रतिष्ठा और लोक प्रतिष्ठा दोनों ही इन्हें प्राप्त थीं। विद्याबल, राजबल और लोकप्रतिष्ठासे हरिभद्रकी वृत्ति अभिमानमय हो चली थी, एवं तदनुसार इन्हें यह मिथ्या आत्म-विश्वास सा हो गया था कि मेरे बराबर प्रगाढ़ वैयाकरण, उत्कट नैयायिक, प्रखर वादी और गम्भीर विद्वान् इस समय सम्पूर्ण पृथ्वी पर कोई नहीं है। किंवदन्तियोंमें देखा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकरके समान ही ये भी अपने इस मिथ्या-विश्वासके प्रदर्शनके लिये एक सोपान-पंक्तिका (नीसरनी), एक कुदाला, एक जाल और जम्बू वृक्षकी एक लता अपने पास रखते थे। इसका तात्पर्य यही था कि यदि प्रतिवादी आकाशमें उड़ जायगा तो उसे इस सोपान-पंक्तिके द्वारा पकड़ लाऊँगा; जलमें प्रविष्ट हो जायगा तो जाल द्वारा खींच लूंगा, और इसी प्रकार यदि पातालमें प्रवेश कर जायगा तो कुदाले द्वारा खोद निकाल लूंगा। जम्बूलताका रहस्य यह था कि मेरे सदृश विद्यावान् सम्पूर्ण जम्बूद्वीपमें कोई नहीं है। इसी प्रकार कहा जाता है कि विद्याके भारसे पेट कहीं फट नहीं जाय, इसीलिये पेटपर एक स्वर्णनिर्मित पट भी बाँधकर रखते थे। साथमें यह भी प्रतिज्ञा थी कि जिसका कथित वाक्य नहीं समझ सकूंगा, उसका तत्काल शिष्य हो जाऊँगा।

एक दिनकी बात है कि हरिभद्र एक सुन्दर शिविकामें बैठकर बाजारमें जा रहे थे, शिविकाके आगे आगे उनके शिष्य उनकी विरुदावलीके रूपमें "सरस्वती कण्ठाभरण, वैयाकरणप्रवण, न्यायविद्याविचक्षण, वादिमतंगजकेसरी, विप्रजननरकेसरी" इत्यादिरूपसे बोलते हुए चल रहे थे। इतनेमें थोड़ी दूरपर "जनतामें घबराहट और इधर उधर भागा दौड़ी हो रही" का दृश्य दिखलाई पड़ा। हरिभद्रके शिष्य और शिविकावाहक मजदूर भी इधर उधर बिखर गये। इस परिस्थितिको देखकर विप्रवर हरिभद्रने भी बाहर दृष्टि दौड़ाई, तो क्या देखते हैं कि एक मदोन्मत्त प्रचण्डकाय पागल हाथी जनतामें भय उत्पन्न करता हुआ तेज़ीसे दौड़ा चला आ रहा है। मार्गमें ही शिविका-स्थित हरिभद्र शिविकाको छोड़कर प्राण रक्षार्थ समीपके एक जैन मन्दिरपर चढ़ गये। तब उन्हें ज्ञात हुआ कि "हस्तिना

ताद्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्" एक कल्पित उक्ति है। सामने ही जिन प्रतिमा दिखलाई पड़ी और जैन दर्शनके प्रति विद्वेषकी सहसा झटिति मुँहसे निकल पड़ा कि:—

वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टं मिष्टान्न भोजनम्।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः॥

अर्थात्—तुम्हारा शरीर स्पष्ट ही मिष्टान्न भोजनके प्रति ममत्वभावको बतला रहा है। क्योंकि यदि वृक्षके कोटरमें अग्नि है, तो फिर वह हरा भरा कैसे रह सकता है?

हाथीके निकल जानेपर तत्पश्चात् हरिभद्र अपने घर पहुँचे।

विनीत हरिभद्र

एक दिनकी बात है कि विप्रवर हरिभद्र राजमहल से निकलकर अपने घरकी ओर जारहे थे; मार्गमें एक जैन उपाश्रय पड़ता था। वहाँपर कुछ जैन साध्वियाँ अपना स्वाध्याय कर रही थीं। स्वाध्यायकी ध्वनी हरिभद्रके कर्णगोचर हुई और उन्हें सुनाई दिया कि एक साध्वी:—

"चक्की दुगं हरि पणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दुचक्की, केसव चक्कीं य॥

इस प्रकार च-प्राचुर्यमय छन्दका उच्चारण कर रही है। इन्हें यह छन्द कौतुकमय प्रतीत हुआ और अर्थका विचार करनेपर भी कुछ समझमें नहीं आया, इसपर वे स्वयं उपाश्रयमें चले गये और आर्याजीसे बोले कि इस छन्दमें तो खूब चकचकार है। आर्याजीने उत्तर दिया कि भाई! अबोध अवस्थामें तो इस प्रकार पहले पहल आश्चर्यमय नवीनता प्रतीत होती ही है। इसपर उन्हें अपनी वह भीष्म प्रतिज्ञा याद हो आई कि जिसका कथित नहीं समझ सकूँगा, उसका तत्काल शिष्य हो जाऊँगा। उसी समय नम्रता पूर्वक बोले कि "माताजी! मुझे अपना शिष्य बना लीजियेगा और कृपया इस गाथाका अर्थ समझाइयेगा।" ज्ञान चारित्र सम्पन्न आर्याजीने समझाया कि "दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामीके चारित्र क्षेत्रमें स्त्रियोंका पुरुषोंको दीक्षा देनेका आचार नहीं है। यदि आपको यह परम पवित्र आदर्श संयम धर्म ग्रहण करना है तो इसी नगरमें स्थित आचार्य प्रवर श्री जिनभटजी मुनिके पास पधारिये; वे आपको अनगार धर्मकी दीक्षा देंगे"। हरिभद्रने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और आर्याजीके साथ साथ दीक्षा ग्रहणार्थ प्रस्थान किया। मार्गमें वही जैन मन्दिर मिला जिसके शरण ग्रहणसे हरिभद्रका जीवन मदोन्मत्त हाथीसे सुरक्षित रह सका था। पुनः वही जिन प्रतिमा दृष्टि गोचर हुई। दृष्टिभेदसे इस समय इन्हें उसमें वीतरागत्वमय शाँतरसकी प्रतीति हुई। तत्काल मुखसे ध्वनि प्रस्फुटित हुई कि **"वपुरेव तवाऽचष्टे भगवन्। वीतरागताम्॥"** वहाँपर कुछ समय ठहरकर हरिभद्रने भक्तिरससे परिपूर्ण स्तुति की और तत्पश्चात् आर्याजीके साथ श्री जिनभटजीके समीप पहुँचे और मुनि धर्मकी जैन दीक्षा विधिवत् विशुद्ध हृदयसे ग्रहण की।

स्वयं हरिभद्र सूरिने अपनी आवश्यक सूत्रकी टीका के अन्तमें अपने गच्छ और गुरुके सम्बन्धमें इस प्रकार उल्लेख किया है:—

"समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका, कृतिः सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलक-आचार्य जिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।" इस उल्लेख परसे निश्चित रूपसे ज्ञात होता है कि हरिभद्र सूरिके जिनभटजी गच्छपति गुरु थे, जिनदत्तजी दीक्षाकारी गुरु थे, याकिनी

महत्तरा धर्मजननी माता थीं, विद्याधर गच्छ और श्वेताम्बर सम्प्रदाय था।

आचार्य हरिभद्र सूरिने याकिनी महत्तराजीके प्रति अत्यन्त भक्ति, कृतज्ञता, लघुता, श्रद्धा और पुत्रभाव प्रदर्शित करनेके लिये अपनी अनेक कृतियोंमें अपनेको 'याकिनी महत्तरा सूनु' के नामसे अंकित किया है, जैसा कि उनके द्वारा रचित श्री दशवैकालिकनिर्युक्ति टीका, उपदेशपद, पंचसूत्रटीका, अनेकान्तजयपताका, ललितावित्तरा और आवश्यक निर्युक्ति टीका आदि पवित्र कृतियों द्वारा एवं अन्य ग्रन्थकारों द्वारा रचित ग्रन्थोंसे सप्रमाण सिद्ध है।

आचार्य हरिभद्र

अब विप्रप्रवर हरिभद्रसे अनगार-प्रवर हरिभद्र हो गये। पहले राज पुरोहित थे, अब धर्म-पुरोहित हो गये। ये वैदिक साहित्य और भारतीय जैनेतर साहित्य-धाराके तो पूर्ण पण्डित और अद्वितीय विद्वान् थे ही। अतः जैन साहित्य और जैन दर्शनके आधार-भूत, ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप त्रिपदीके भी अल्प समयमें ही और अल्प परिश्रमसे ही पूर्ण अध्येता एवं पूर्ण ज्ञाता हो गये। शनैः शनैः जैन दर्शनके गम्भीर मननसे ये आचार क्षेत्रमें भी एक उज्ज्वलनक्षत्रवत् चमक उठे और जैसे एक चक्रवर्ती अपने पुत्रको भार सौंपकर चिन्ता मुक्त हो उठता है, वैसे ही श्री जिनभटजी भी अपने गच्छके सम्पूर्ण भारको हरिभद्र पर छोड़कर चिन्ता मुक्त हो गये। इस प्रकार मुनि हरिभद्र आचार्य हरिभद्र हो गये और ज्ञान, दर्शन, चारित्रमें, अव्याहत गतिसे विकास करने लगे।

हरिभद्रसूरिके शिष्य

कहा जाता है कि हरिभद्र सूरिके हँस और परमहँस नामके दो भगिनी-पुत्र (भाणेज) थे। ये दोनों किसी कारण वशात् वैराग्यशील होकर अनगार-धर्मकी दीक्षा ग्रहणकर इनके शिष्य हो गये थे। आचार्य हरिभद्र सूरिने व्याकरण, साहित्य, दर्शन एवं तत्त्वज्ञान आदि विषयोंमें इन्हें पूर्ण निष्णात बना दिया था। किन्तु फिर भी इनकी इच्छा बौद्ध विद्या पीठमें ही जाकर बौद्ध दर्शनके गम्भीर अध्ययन करनेकी हुई। उस समयमें मगध प्राँतकी ओर बौद्धोंका प्रबल प्रभाव था। मगध आदि प्राँतकी ओर अनेक विद्याकेन्द्र थे। एक विद्यापीठ तो इतना बड़ा था कि जिसमें १५०० अध्यापक और १५००० छात्र थे। उस समयमें बौद्धोंने शुष्क तर्क-क्षेत्रमें अपना अत्यधिक आधिपत्य जमा रक्खा था। हँस और परमहँस सदृश विद्वानोंका ऐसी स्थितिमें उस ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि आचार्य हरिभद्र स्वयं बौद्ध दर्शनके महान् पण्डित और असाधारण अध्येता थे, जैसा कि उनके उपलब्ध ग्रंथोंमें उन द्वारा बौद्ध दर्शनपर लिखित अंशसे सप्रमाण सिद्ध है। फिर भी हँस और परमहँसकी बौद्ध विद्यापीठमें ही जाकर बौद्ध दर्शनके अध्ययन करनेकी प्रबल और उत्कृष्ट उत्कण्ठा जागृत हो उठी। हरिभद्र सूरिने बौद्धोंकी विद्वेषमय प्रवृत्तिके कारण ऐसा करनेके लिये निषेध किया; किन्तु पूर्वकर्मोदय वशात् भावी अनिष्ट ही हँस और परमहंसको उस ओर आकर्षित करने लगा। सच है भवितव्यताकी शक्ति सर्वोपरि है।

यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि ये दोनों शिष्य गुरुके अनन्य प्रेमी और असाधारण भक्त थे। गुरुके वचनोंपर सर्वस्व होम कर देनेकी पवित्र भावनावाले थे। किन्तु भवितव्यतावश गुरुकी पुनीत आज्ञासे इस समय विमुख हो गये। भावी अनिष्ट इन्हें बौद्ध विद्यापीठकी ओर खींचता चला गया। अन्ततो-

गत्वा चलते चलते ये विद्यापीठमें पहुँच ही गये।

जैसे आजकल सर्व धर्म सहिष्णुताका अथवा पर-धर्म प्रति उदारताका अभाव-सा है; वैसा ही उस समयमें भी स्वपक्षको येनकेन प्रकारेण सिद्धि करना और पर-पक्षका इसी प्रकार खण्डन करना ही धर्म प्रभावना अथवा धर्मरक्षा समझी जाती थी। बौद्ध साधुओंका आचार विचार लोक-कल्पनाकी भावनासे रहित हो चला था। महाकारुणिक भगवान बुद्धकी आदर्शता और लोक-कल्याणकी भावना विलुप्त सी हो गई थी। केवल तर्क-बल पर अन्य दर्शनोंको वाद विवादके क्षेत्रमें पराजितकर अपनी प्रतिष्ठा जनसाधारणमें स्थापित करते हुए, अपनी इहलौकिक तृष्णामय आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हुए अपने धर्मका आधिपत्य प्रतिष्ठित करना ही बौद्ध भिक्षुओंका एक मात्र उद्देश्य रह गया था। महावीर कालीन वैदिक स्वच्छंदताकी तरह इस समय भी बौद्ध-स्वच्छंदताका साम्राज्य-सा था। विद्यापीठोंकी स्थापनाका ध्येय भी यही था और तदनुसार अनेक विकल्पात्मक शुष्क न्याय विषयोंका ही उनमें विशेष अध्ययन कराया जाता था।

इस असहिष्णुतामय वातावरणमें हंस और परमहंस जैन साधुके वेशमें कैसे रह सकते थे? बौद्ध भिक्षुओंके समान वेश-परिवर्तन करना पड़ा। मुनिहंस और मुनि-परमहंससे भिक्षु हंस और भिक्षु परमहंसकी उपाधि धारण करनी पड़ी। यह है विद्या-व्यसन और विघ्न-मोहकी प्रबल उत्कण्ठाका विकृत परिणाम। इस व्यसन और मोहकी कृपासे ही पवित्र आचार विचार छोड़ने पड़े; गुरुकी पुनीत आज्ञाकी अवहेलना की और इस प्रकार आत्म-विचारोंकी हत्या करनी पड़ी।

इन्हें बौद्ध-भिक्षु समझकर विद्यापीठके कुलपतिने इनके लिये भोजन और अध्ययनकी सर्व सुलभता और पूर्ण व्यवस्था कर दी। अब ये शाँति पूर्वक पूर्ण निर्भयताके साथ क्लिष्टसे क्लिष्ट दर्शन-शास्त्रोंका भी अति शीघ्रतासे अध्ययन करने लगे। उपयोगी भागको कंठस्थ भी करने लगे। साथमें जैन दर्शनके प्रतिवाद अंशका भी प्रतिवाद अत्यंत सूक्ष्म रीतिसे किन्तु मार्मिकरूपमें दो एक पृष्ठोंपर इन्होंने लिख लिया।

परीक्षा और कुलपति-कोप

हंस और परमहंस उन पृष्ठोंको गुप्त ही रखते थे, किन्तु देवयोगसे एक दिन ये पृष्ठ हवासे उड़ गये और एक बौद्ध भिक्षुके हाथ लग गये। पृष्ठोंको उठाकर वह कुलपतिके समीप ले गया। कुलपतिने ध्यानपूर्वक उन पृष्ठोंको पढ़ा। बौद्ध दर्शनके प्रति जैन दर्शनकी युक्तियों की गंभीरता, मौलिकता और अकाट्यतापर कुलपति मुग्ध हो उठा और इस बातपर आश्चर्यजनक प्रसन्नता हुई कि मेरे विद्यापीठमें ऐसे प्रखर बुद्धिशील विद्वान् विद्यार्थी भी हैं। किन्तु थोड़ी ही देरमें संप्रदायान्धताकी मादकता ने मस्तिष्कमें विकृतिकी लहर दौड़ा दी। कुलपतिको यह जाननेकी उत्कण्ठा हुई कि इन पन्द्रहहजार छात्रों में से वे कौनसे छात्र हैं; जिन्होंने कि इतनी प्रखर बुद्धि का इतना सुन्दर परिचय दिया है। निश्चय ही वे जैन हैं; किन्तु ज्ञात होता है कि वे यहाँपर बौद्ध भिक्षुके रूपमें रहते हैं।

निष्करुण परीक्षाका दारुण समय उपस्थित हुआ और यह युक्ति निर्धारित की गई कि एक जिन-प्रतिमा मार्गमें रक्खी जाय और उसपर विद्यापीठका प्रत्येक ब्रह्मचारी पाँव रखते हुए आगे बढ़े। इस रीति अनुसार बौद्ध छात्र तो निर्भयता पूर्वक प्रतिमापर पैर रखते हुए आगे बढ़ गये। किन्तु जब हंस और परमहंसका क्रम आया तो इन्होंने भी एक प्रतियुक्ति सोची। वह यह थी

कि प्रतिमाके कण्ठ-स्थानपर इन्होंने तीन रेखाएँ खींच दीं; जिससे कि यह प्रतिमा जिन की नहीं रहकर बौद्धकी बन गई और तदनुसार उसपर पैर रखकर ये दोनों भी आगे बढ़ गये। रेखा-प्रक्रियासे कुलपतिको विश्वास हो गया कि ये दोनों नवीन ब्रह्मचारी ही जैन हैं। "जैन हैं" ऐसा ज्ञात होते ही प्रतिशोधकी और प्रतिहिंसाकी भयंकर ज्वाला प्रज्वलित हो उठी और मृत्यु दण्ड देना ही कुलपतिको उचित दण्ड ज्ञात हुआ। हंस और परमहंस को जब ऐसे भयंकर दण्ड-विधानके समाचार सुनाई पड़े तो वे वहाँसे गुप्त रीतिसे भाग निकले। कुलपतिको उनके भागनेके समाचारसे प्रचंड क्रोध आया और उसने तत्काल विद्यापीठमें उपस्थित किसी बौद्ध-राजाकी सेनाके कुछ सैनिकोंको उन्हें पकड़कर लानेका कठोर आदेश दिया।

आदेश-पालक सेनाके कुछ पदाति और अश्वारोही उनका पीछा करनेके लिये चल पड़े और जब यह बात हंस और परमहंसको पीछेकी ओर मुड़कर देखनेपर ज्ञात हुई तो हंसने परमहंसको कहा कि देखो! अब अपनी रक्षा होनी कठिन है; अतः यही श्रेष्ठ होगा कि तुम तो सामने दिखलाई पड़नेवाले इस नगरमें चले जाओ और यहाँके राजा सूरपालको संपूर्ण वृत्तान्तसे अवगत करके इसकी सहायतासे गुरुजी (हरिभद्र सूरि जी) के पास चले जाना। सारा वृत्तान्त उनकी सेवामें सविनय निवेदन करना और आज्ञाकी अवहेलना करने से प्राप्त पापके लिये प्रायश्चित्त करना; एवं मेरी ओरसे भी आज्ञा-अवज्ञाके लिये क्षमा माँगते हुए निवेदन करना कि हंस तो धर्मकी रक्षा करते हुए वीर-गतिको प्राप्त होगया है। परमहंस बड़े भाई की इस करुण-रस-पूर्ण बातसे विह्वल हो उठा, किन्तु भयानक स्थिति और समय देखकर बड़े भाईको श्रद्धा पूर्वक प्रणामकर नगर की ओर प्रस्थान कर दिया। आक्रमणकारियोंके समीप आते ही हंस उनसे अभिमन्युकी तरह युद्ध करता हुआ वहीं वीर-गतिको प्राप्त होगया।

परमहंसका वाद विवाद और अवसान

परमहंस वहाँसे शीघ्रगतिसे भागता हुआ राजा सूरपालकी राज-सभामें पहुँचा और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजाने शरणागतको अभयदान दिया। तत्पश्चात् हंसको मारकर वे आक्रमणकारी भी सूरपालकी सभामें पहुँचे और परमहंसकी माँगणी की। सूरपालने देनेसे इंकार कर दिया। सेनाकी टुकड़ीके अध्यक्षने अनेक प्रकारके भय बतलाये, किन्तु सूरपाल अचल रहा। अंतमें यह निश्चय हुआ कि परमहंसके साथ बौद्धोंका वाद विवाद हो और यदि परमहंस पराजित हो जाय तो उसे बौद्धोंको सौंप दिया जाय। तदनुसार इस प्राणघातक परीक्षामें भी परमहंस स्वर्णवत् प्रामाणिक ठहरा और विजयी हुआ। आक्रमणकारी अपना सा मुँह लिये हुए लौट गये। परमहंस सूरपालके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हुआ वहाँसे चल दिया। तेज़ गतिसे चलता हुआ और अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता हुआ अन्तमें परमहंस अपने गुरु हरिभद्रसूरिके समीप पहुँचा। सारा इतिहास करुणाजनक भाषामें बतलाया और गुरु-आज्ञाकी अवहेलना करनेके लिये अपनी ओरसे एवं बड़े भाई हंसकी ओरसे क्षमा माँगते हुए दैव दुर्विपाकसे वार्तालाप करते हुए ही तत्काल स्वर्गवासी होगया।

बौद्धोंके प्रति हरिभद्रसूरिका प्रचण्ड प्रकोप

हरिभद्र सूरिको इस प्रकार बौद्ध-कुकृत्यों और दुराचारोंका ज्ञान होते ही भयंकर क्रोधका समुद्र उमड़ आया। यद्यपि हरिभद्र सूरि एक योगी और आध्यात्मिक

महापुरुष थे; किन्तु फिर भी जिस प्रकार शीतल चन्दन के आल्हादक बनमें भी दावानल सुलग जाता है, वैसे ही चरित्र नायकके भी उदार एवं शीतल हृदयमें क्रोध-ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। मोहकी माया बड़ी प्रबल हुआ करती है; शिष्य मोह और बौद्ध-मदान्धताने समुज्जवल सुधाकरकी सुमधुर सुधाको विकराल विषधरके विषम विषके रूपमें परिणत कर दिया। हरिभद्र सूरि उठे और वेग पूर्वक वायुकी चालसे चलते हुए बौद्धों से बदला लेनेके लिये राजा सूरपालकी सभा में पहुँचे। राजाको तदनुरूप आशीर्वाद दिया और परम हंसकी रक्षाके लिये भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए धन्यवाद दिया; एवं बौद्धोंसे वाद विवाद कर प्रतिशोधकी प्रज्वलित विकराल ज्वालाको शांत करनेकी अपनी अभिलाषा प्रकट की। राजाने नम्रता पूर्वक निवेदन किया कि बौद्ध प्रतिवादी तो अनेक हैं और आप केवल एक ही हैं, अतः यह सामञ्जस्य कैसे हो सकेगा? हरिभद्रसूरिने सिंहवत् निर्भयता पूर्वक उत्तर दिया कि आप निश्चित् रहें। मैं अकेला ही उन प्रतिवादी रूप हाथियों के समूहमें सिंहवत् पराक्रमी सिंह होऊँगा। इस पर राजा ने एक वाचाल किन्तु बुद्धिमान दूतको बौद्ध कुलपति के समीप शास्त्रार्थका निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये भेजा। सन्देश वाहकने जाकर कठोर भाषामें गर्जना की कि "हे बौद्ध-शिरोमणि तर्क-पंचानन" आप अपनेको न्याय वन-सिंह समझ बैठे हो; किन्तु अभी तक प्रतिवादी मतंगज स्वच्छंदता पूर्वक विचरण कर रहे हैं; उनका दमन क्यों नहीं करते हो? ऐसा ही कोई दुर्दमनीय मतंगज राजा सूरपालकी राज-सभामें आया हुआ है; उसने प्रतिमल्लवत् ललकारा है कि यदि अपनी मान-मर्यादाकी रक्षा करना चाहते हो तो विवादात्मक युद्ध-क्षेत्रमें आओ; अन्यथा बौद्ध-धर्मकी पराजय स्वीकार करते हुए दीन वचनोंमें प्रार्थना करो कि हम शृगाल हैं सिंह नहीं। वाचालदूतकी दर्पपूर्ण कटुक्तियों पर कुलपतिको उत्तेजनात्मक रोष हो आया और क्रोधसे दांतों द्वारा ओष्ठको दबाता हुआ बोल उठा कि "अरे मूर्ख दूत! जाओ, हमें उस उद्धत प्रतिवादीका निमन्त्रण स्वीकार है। हे अभिमानी सन्देश वाहक! उस धृष्ट प्रतिवादीको साथमें यह शर्त भी कह देना कि जो पराजित होगा; उसे प्राण दण्ड दिया जावेगा। यह शर्त स्वीकार हो तो हम वाद-विवादमें सम्मिलित हो सकते हैं; अन्यथा नहीं"। दूतने तत्काल उत्तर दिया कि "पराजितको जलते हुए तेलके कड़ाहेमें कूदना होगा; यही प्राण-दंडकी रूप रेखा होगी। यदि आपको पूरा २ आत्म विश्वास हो कि मैं ही विजयी होऊँगा; तो ही आपको वाद-विवादके क्षेत्रमें उतरना चाहिये, अन्यथा पराजयके भीषण कलंकके साथ प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा और साथ साथ बौद्ध शासनके सौभाग्य श्रीको भी भीषण धक्का लगेगा; एवं बौद्ध-शासन-प्रभावना पर कलंक-मुद्राकी अमिट छाप लग जायगी"। इन वचनों से कुलपतिको मार्मिक आघात पहुँचा और चोट खाये हुए सर्पकी भांति दूतको भर्त्सना देता हुआ बोला कि "हे मूर्खाधिराज! हमारी चिन्ता न कर और अधिक प्रलाप मत कर। जा; हम शास्त्रार्थके लिये आते हैं; राजासे कह देना कि सब व्यवस्था करे, किसी बातकी त्रुटि नहीं होने पावे।"

विवाद-सभाकी सर्व प्रकारेणपूरी व्यवस्था की गई। सभापति, सभ्य, मध्यस्थ, दर्शक और श्रोताओंसे सारी सभा सुशोभित होने लगी। समय होते ही राजाभी उपस्थित हुआ। प्राण-घातक शर्तके कारण प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें उत्सुकता और व्याकुलताका आश्चर्य जनक संमिश्रण था। संपूर्ण सभामें सूची भेद्य नीर-

वता थी। दोनों वादी प्रतिवादी भी नियमानुसार शास्त्रार्थके लिये तैयार हो गये और वाद-विवाद प्रारंभ हुआ।

प्रथम बौद्ध कुलपतिने पूर्व पक्षके रूपमें "क्षणवाद" का प्रबल युक्तियों, हेतुओं और अनुमानों द्वारा पूर्ण समर्थन किया और अजेयरूप देनेका भरपूर प्रयास किया। तदन्तर हरिभद्रसूरि उठे और मंगलाचरण करने एवं राजा तथा सभाको आशीर्वाद देनेके बाद शांति पूर्वक किन्तु प्रखर तर्कों द्वारा क्रमशः क्षणवाद का खंडन करते हुए कुलपतिकी सारी शब्दाडम्बरमय तर्कोंको इस प्रकार अस्त व्यस्त कर दिया, जिस प्रकार कि वायु मेघोंके प्रवाहको कर देता है। अन्तमें "वस्तु स्थिति नित्यानित्यात्मक है" इसी सिद्धान्तको सर्वोपरि ठहराया। अपने पक्षको प्रबल रीतिसे सिद्ध कर दिया। अन्ततोगत्वा प्रतिपक्षी इस सम्बन्धमें अपने आपको अनाथ और असहाय सा अनुभव करने लगा; एवं **"मौनं स्वीकृति-लक्षणं"** के अनुसार पराजय स्वीकार कर ली।

सम्पूर्ण सभा स्तब्ध और शांत थी। **"कुलपतिः पराभूतः"** सभासदोंके इन शब्दों द्वारा वह नीरव शांति भंग हुई। कुलपति उठा और पूर्व प्रतिज्ञानुसार उसने गरम २ तेलके कड़ाहेमें गिरकर मृत्युका आलिंगन कर लिया। इस प्रकार जब पांच छः के लगभग बौद्धोंका तेलके कड़ाहेमें गिर कर होम हो गया, तब सम्पूर्ण बौद्ध संसारमें हाहाकार मच गया। बौद्ध-शासन-रक्षिका तारादेवी बुलाई गई; उसने यही कहा कि हंस और परमहंसकी हत्याका ही यह परिणाम है; अतः इसीमें कल्याण है कि सब बौद्ध यहांसे चले जाँय।

हरिभद्र सूरिका क्रोध अभी तक शाँत नहीं हुआ था; वे क्रोधसे प्रज्वलित हो रहे थे और और भी बौद्धोंका नाश करना चाहते थे। किन्तु कहा जाता है कि जब यह घटना आचार्य जिनभट सूरिजीको ज्ञात हुई तो उन्होंने क्रोधको शाँत करनेके लिये अपने दो शिष्योंके साथ तीन प्राकृत गाथाएँ भेजीं। कहा जाता है कि वे गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

गुण-सेण-अग्गिसमा, सीहाऽणन्दा य तह पिया उत्ता।
सिहि जालिणि माइसुया धणधणसिरिमो य पइ-भज्जा॥
जय विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई भज्जा।
सेणविसेणापित्तियउत्ता जम्मम्मि सत्तमए॥ २॥
गुणचंद-वाणमंतर समराइच्च-गिरिसेणपाणो उ।
एक्कस्स तओ मोक्खो बीयस्स अणन्त संसारो॥ ३॥

इन गाथाओंका यही तात्पर्य है कि क्रोधके प्रतापसे दो जीव नौ जन्म तक साथमें रहने पर भी अंतमें एक को तो मुक्ति प्राप्त होती है और दूसरेका अनन्त संसार बढ़ जाता है। अतः क्रोधके बराबर दूसरा कोई शत्रु नहीं है। इसलिये कषायगणनाके प्रारम्भमें ही इसका नाम निर्देश है।

गाथाओंका मनन करते ही हरिभद्रसूरिका क्रोध तत्काल शाँत होगया; उन्हें अपने इस हिंसाकाँडसे भयंकर पश्चात्ताप हुआ और वहाँसे वे तत्काल चित्रकूटकी ओर मुड़े। तीव्रगतिसे चलते हुए गुरुजीके समीप पहुँचे और चरणोंमें गिरकर प्रायश्चित्त लेते हुए पापोंकी आलोचना की। उन तीन गाथाओंके आधारसे ही बादमें हरिभद्र सूरिने प्रशमरसपूर्ण "समराइच्च कहा" नामक कथा-ग्रंथकी रचना की; जोकि कथा-साहित्यमें विशिष्ट गौरव पूर्ण ग्रंथ-रत्न है।

राजशेखर सूरिने अपने प्रबंधकोशमें शास्त्रार्थ होने की बात न लिखकर केवल मंत्र-बलद्वारा ही बौद्धोंका नाश करनेके संकल्पकी बात लिखी है।

इसी प्रकार सम्वत् १८३४ में हुये अमृतधर्म गणि

के शिष्य श्री क्षमाकल्याण मुनिने भी राजशेखर सूरि-वत् ही उल्लेख किया है। और यह भी विशेषता बत-लाई है कि हरिभद्र सूरिके क्रोधको शाँत करनेवाले श्री जिनभट सूरिजी नहीं थे; किन्तु "याकिनी महत्तराजी" ही थी।

सुना जाता है कि इन्होंने १४४४ अथवा १४४० बौद्धोंको नाश करनेका संकल्प किया था; अतः उस संकल्पजा हिंसाकी निवृत्तिके लिये १४४४ अथवा १४४० ग्रंथोंके रचनेकी आदर्श प्रतिज्ञा ली थी। अपने उज्वल जीवनमें ये इतने ग्रंथ रच सके थे या नहीं; इस सम्बन्धमें कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं पाया जाता है। केवल इतने ग्रन्थोंके रचनेवाले कहे जाते हैं एवं माने जाते हैं।

हरिभद्र सूरिने अपने कुछेक ग्रन्थोंके अन्तमें **'विरह'** शब्दको अपने विशेषण रूपसे संयोजित किया है। यह शब्द हंस और परमहंसकी अकाल मृत्युका द्योतक है-ऐसी मान्यता है। उनके दुःखसे उत्पन्न वेदना स्वरूप ही एवं उनकी स्मृतिके लिये ही **"विरह"** शब्द लिखा है।

श्री प्रभाचन्द्र सूरिने अपने प्रभावक चरित्रमें लिखा है कि आचार्य हरिभद्र सूरिने अपने ग्रंथोंका व्यापक और विशाल प्रचारार्थ तथा ग्रन्थोंकी अनेक प्रतियाँ तैयार करनेके लिये "कार्पासिक" नामक किसी भव्य आत्माको व्यौपारमें लाभकी भविष्यवाणी की थी; और तदनुसार उसने व्यौपारकर पुष्कल द्रव्य-लाभ किया था, जिससे उसने अनेक प्रतियाँ तैयार कराई और स्थान २ पर पुस्तक भंडारोंमें उन्हें भिजवाई थी।

कथा-भिन्नता

श्री महेश्वर सूरि कृत कथावालिमें हरिभद्र सूरिका जन्म-स्थान "पिर्वगुई" नामक कोई ब्रह्मपुरी बतलाई गई है। माताका नाम गंगा और पिताका नाम शंकर-भट्ट बतलाया गया है। इसी प्रकार याकिनी महत्तराजी के साथ चरित्र-नायक श्री जिनभटजीकी सेवामें नहीं गये थे, किन्तु श्री जिनदत्त सूरिजीके समीप गये थे; ऐसा उल्लेख है। श्री जिनदत्त सूरिजीसे हरिभद्रसूरिने प्रश्न किया था कि "धर्म कैसा होता है"? इसपर गुरुजीने उत्तर दिया कि धर्म दो प्रकारका होता है:— १ सकामवृत्तिस्वरूप धर्म और २ निष्कामवृत्तिस्वरूप धर्म। प्रथमसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और द्वितीयसे "भव-विरह" होता है। इसपर भद्र-प्रकृति हरिभद्र सूरिने सविनय निवेदन किया कि "हे करुणासिंधो! मुझे तो "भव-विरह" ही प्रिय है। इसपर श्री जिनदत्त सूरिजीने प्रसन्न होकर उन्हें साधु-धर्मकी पवित्र दीक्षा दी।

शिष्योंके सम्बन्धमें कथावलिमें इस प्रकार उल्लेख है कि इनके दो शिष्य थे, जिनके नाम क्रमसे जिनभद्र और वीरभद्र थे। इन दोनोंको बौद्धोंने किसी कारण-वशात् एकान्तमें मार डाला था, इससे हरिभद्र सूरिको मार्मिक आघात पहुँचा एवं आत्मघात करनेके लिये ये तैयार होगये। किन्तु ऐसा नहीं करने दिया गया। अन्तमें हरिभद्र सूरिने ग्रंथ-रचना ही शिष्य अस्तित्व समझा और तदनुसार इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की।

इसी प्रकार कथावलिमें यह भी देखा जाता है कि हरिभद्र सूरिको "लल्लिग" नामक एक सद्गृहस्थने ग्रन्थ-रचनामें बाह्य सामग्रीकी बहुत सहायता प्रदान की थी। यह जिनभद्र वीरभद्रका चाचा (पितृव्य) था। इसे चरित्र नायकजीकी द्रव्य-विषयक भविष्य वाणीसे पुष्कल लाभ हुआ था। इसने उपाश्रयमें एक ऐसा रत्न रख दिया था कि जिसका प्रकाश रात्रिमें दीपकवत् फैलता

था और उस प्रकाशकी सहायतासे आचार्यश्री रात्रिमें भी ग्रंथ रचनाका कार्य भलीभाँति कर सकते थे और करते थे।

हरिभद्र सूरि जब भोजन करने बैठते थे, उस समय लल्लिग शंख बजाता था, जिसे सुनकर याचकगण वहाँ एकत्रित हो जाते थे। याचकोंको उस समय भोजन कराया जाता था और तदनन्तर याचकोंके हरिभद्रसूरि को नमस्कार करने पर आचार्यश्री यही आशीर्वाद देते थे कि "भवविरह करनेमें उद्यमवन्त हो।" इसपर याचक गण पुनः "भवविरह सूरि चिरंजीवी हो" ऐसा जयघोष करते थे। इसीलिये जिन-शासन शृंगार आचार्य हरिभद्रसूरिका अपर नाम "भवविरह सूरि', भी प्रसिद्ध हो गया था।

सम्पूर्ण कथा–मीमाँसा

यह तो सत्य है कि कथाका कुछ अंश कल्पित है, कुछ अंश विकृत है और कुछ अंश रूपक अलंकारसे संमिश्रित है। साधु-शिरोमणि आचार्य हरिभद्र सूरिके उज्ज्वल और आदर्श जीवन चरित्रका अधिकाँश भाग विस्मृतिके गर्भमें विलुप्त होगया है; जिसे अब हमारी कल्पनाएँ ठीक ठीकरूपमें ढूंढ निकालनेमें शायद ही समर्थ हो सकेंगी।

ये प्रकृतिसे भद्र, उदार, सहिष्णु, गम्भीर और विचारशील थे; यह तो पूर्ण सत्य है और इनकी सुन्दर कृतियोंसे यह बात पूर्णतया प्रामाणिक है। दार्शनिक क्षेत्रमें इनके जोड़का शाँत विद्वान् और लोकहितकर उपदेष्टा शायद ही कोई दूसरा होगा। पं० बेचरदासजीके शब्दोंमें ये वादियोंके वादज्वरको, हठियोंके हठज्वरको और जिज्ञासुओंके मोहज्वरको शाँत करनेमें एक आदर्श रामबाण रसायन-समान थे।

यह भी पूर्ण सत्य है कि विद्याधरगच्छ और श्वेताम्बर संप्रदायमें श्री याकिनी महत्तराजीकी किसी अज्ञात प्रेरणासे श्री जिनदत्त सूरिजीके पास दीक्षा ग्रहण की थी। और श्री जिनभटजीके साथ इनका सम्बन्ध गच्छपति गुरुरूपसे था।

जन्म-स्थान और माता पिताके नामके सम्बन्धमें ऐतिहासिक सत्यरूपसे कुछ कह सकना कठिन है। किन्तु ये ब्राह्मण थे, अतः कथावलिका उल्लेख सत्य हो सकता है। प्रभावक-चरित्रके अनुसार चित्तौड़ नरेश जितारिका पुरोहित बतलाना सत्य नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि चित्तौड़के इतिहासमें हरिभद्र-कालमें "जितारि" नामक किसी राजाका पता नहीं चलता है। इसी प्रकार हाथीवाली घटना भी कितना तथ्याँश रखती है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है; क्योंकि इस घटना की श्री-मुनिचन्द्र सूरि कृत उपदेशपदकी टीकाके उल्लेखमें कोई चर्चा नहीं है। यह कथाभाग पीछेसे जोड़ा गया है, ऐसा ज्ञात होता है। पाँडित्य-प्रदर्शन और तत्सम्बन्धी अंशका इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि इनकी वृत्ति प्रारंभमें अभिमानमय होगी और ये अपनेको सबसे अधिक विद्वान् समझते होंगे तथा शेषके संबंधमें हीन-कोटिकी धारणा होगी। इसी धारणाका यह रूप प्रतीत होता है; जो कि कवि-कल्पना द्वारा इस प्रकार कथाके रूपमें परिणत हो गया है।

श्री याकिनी महत्तराजीके साथ इनका सम्पर्क और इतना भक्ति-पूर्ण सम्बन्ध कैसे हुआ? यह एक अज्ञात किन्तु गम्भीर रहस्यपूर्ण बात है। एक श्लोक अथवा गाथा के आधार से ही इतना प्रचण्ड गम्भीर दार्शनिक वैदिक दर्शनको छोड़कर एकदम जैन-साधु बनकर जैन-दर्शन भक्त बन जाय; यह एक आश्चर्य-जनक बात

प्रतीत होती है। यह सम्भावना हो सकती है कि कोई अति जटिल दार्शनिक समस्या इनके मस्तिष्कमें चक्कर लगाती रही होगी और उसका समाधान इन्हें बराबर नहीं हुआ हो; ऐसी स्थितिमें सम्भव है कि अनेकान्त-सिद्धान्त द्वारा पूज्य याकिनी महत्तराजीसे इनका समाधान हो गया होगा और इस दशामें स्याद्वादकी महत्ता और दार्शनिक समस्याके समाधानसे इन्हें परम प्रसन्नता हुई होगी और इस प्रकार यह प्रसन्नता ही इन्हें जैन-दर्शनके प्रति अनुरक्त बनानेमें एवं साधु बनानेमें कारण भूत हुई होगी, ऐसा ज्ञात होता है। यही श्री याकिनी-महत्तराजीके प्रति इनकी भक्ति और श्रद्धाका रहस्य प्रतीत होता है।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद जैनदर्शनका हृदय है। इसकी मौलिक विशेषता यही है कि इसके बलसे जटिल से जटिल दार्शनिक समस्याका भी सरल रीत्या पूर्ण समाधान हो जाता है। अतः हो सकता है कि असाधारण दार्शनिक हरिभद्रकी दार्शनिक समस्याएँ इस सिद्धांत के बल पर हल होगई हों और इस प्रकार ये जैन धर्मानुरागी बन गये हों।

शिष्य-संबंधी कथा-भागका आधार यही हो सकता है कि इनके शिष्य तो दो अवश्य ही हुए होंगे इनका गृहस्थ नाम शायद हँस और परमहँस होगा और दीक्षा नाम संभव है कि जिनभद्र और वीरभद्रके रूपमें हो। प्रभावक चरित्र और कथावलिमें पाये जाने वाले नाम-भेदसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। कथा-अंशसे यह भी सत्य हो सकता है कि बौद्धोंने इन दोनोंको कोई महान् कष्ट पहुँचाया हो और इन्हें भयंकर प्रताड़ना दी हो; जिससे संभव है कि ये दोनों शिष्य काल कर गये हों। इस पर आचार्य हरिभद्र सूरिको यदि प्रचंड क्रोध आ जाय तो मानव-प्रकृतिमें यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। बौद्धोंसे इन्होंने अवश्य शास्त्रार्थ किया होगा और उन्हें अपमान पूर्वक पराजयकी कलक-कालिमासे चोट पहुँचाई होगी। किन्तु बौद्धोंका इस प्रकार नाश किया हो; यह कुछ विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता है। यह हो सकता है कि मानवप्रकृति अपूर्व है और इसलिए बौद्धोंका नाश करने का संकल्प कर लिया हो और उस संकल्पजा हिंसाकी निवृत्तिके लिये ही एवं शिष्यमोहकी निवृत्तिके लिये ही १४४४ या १४४० ग्रन्थोंको रचनेका विचार किया हो। और यथा शक्ति इस संख्याको पूर्ण करनेका प्रयास किया हो, इस सत्य पर अवश्य पहुँचा जा सकता है कि बौद्धों और इनके बीचमें कोई न कोई तुमुल युद्ध अवश्य मचा है और वह कटुताकी चरम-कोटि तक अवश्य पहुँचा होगा। बौद्धोंकी तत्कालीन नृशंसतापूर्ण निरंकुशता और उत्तरदायित्वहीन स्वच्छंदता पर हरिभद्र-सूरिको अवश्य क्रोध आया होगा और संभव है कि वह क्रोध हिंसाकी अक्रियात्मक अवस्थाओंमेंसे अवश्य गुजरा होगा। इस प्रकार तज्जनित पापकी निवृत्तिके लिये ग्रंथ रचनाकी प्रतिज्ञाकी हो। अतः इस विस्तृत आख्योपाँत घटनाका यही मूल आधार प्रतीत होता है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बौद्धोंकी स्वच्छंदतापर ये अकुंश लगानेवाले और उनकी उन्मत्तताका दमन करने वाले थे। अतः भारतीय संस्कृतिके और खास तौर पर जैन संस्कृतिके ये प्रभावक संरक्षक और विकासक महापुरुष थे; इसमें कोई संदेह नहीं है।

इनकी प्रतिभा संपन्न कृतियों और साहित्य सेवाके संबंधमें अगली किरणमें लिखनेका प्रयत्न करूंगा।

(अपूर्ण)

वीर-नतुवा

[लेखक पं० मूलचन्दजी जैन "वत्सल"]

(१)

वह स्वधर्म-अनुरक्त, सत्यभक्त और मातृभूमि-प्रेमासक्त था। उज्वल अहिंसासे उसका हृदय परिप्लुत था।

मातृभूमि-संरक्षणके लिए, वीर माताकी आज्ञानुसार प्रतिस्पर्धीका निमंत्रण स्वीकार कर भीषण रण स्थलमें अपने अटल कर्तव्यको पूर्ण करनेवाला स्वधर्मनिरूपित अंतिम उत्कृष्ट क्रियाओंको उल्लास पूर्ण अवस्थामें परिपूर्ण कर स्वर्ग प्राप्त करनेवाला, वह था एक 'बारहव्रत धारी जैन श्रावक।'

उसका नाम था 'वैराग नाग नतुवा।'

(२)

कल उपवासका दिन था और आज था उसके पारणे का दिन। नतुवा आसन पर पारणा करने को बैठा ही था कि उसी समय भेरी की ध्वनि उसके कानोंमें पड़ी। नगरके शान्तिपूर्ण वातावरण में कुछ असाधारण उपद्रव जगने की उसे आशंका उत्पन्न हुई। भोजन त्याग कर वह उसी समय उठा और बाहर आया। नगर पर किसी शत्रु सैन्यने आक्रमण किया है, आक्रमणका प्रतिकार करनेके लिए स्वदेश और स्वजनोंके रक्षणार्थ राजाने समस्त वीर क्षत्रिय सैनिकों को अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होनेका निमंत्रण दिया है। यह उसने ज्ञात किया।

भेरी बज रही है, लोकसमूह इस नवीन उत्पन्न हुई परिस्थितिमें अपने अपने योग्य कार्यको हस्तगत कर लेनेके लिए शीघ्रतासे एकत्रित हो रहे हैं। जिसका आत्मभाव सदैव जागृत है ऐसे नतुवाके लिए नवीन परिस्थितिको अनुभव करनेमें कुछ भी समय न लगा।

वह घरमें आया और बातकी बातमें अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होगया। शरीर पर लोहेका कवच और मुकुट, कमरमें तलवार, उसके ऊपर कटार तथा पीछे ढाल, तीरोंसे भरा तरकस और हाथमें धनुष।

योद्धाका साज सजकर, इष्ट देवका स्मरण कर, माता पिताके आशीर्वाद और वीर पत्नीके वीरोत्तेजक शब्दोंसे उत्तेजित नतुवा शत्रु दलका सामना करनेके लिए बाहर निकल पड़ा।

(३)

वीरताके कारण सेनामें उसका पद ऊँचा था, वह रथी था। बाहर रथ तैयार था, अधीर हुए उन्मत्त घोड़े चारों पैरोंसे हवामें उड़नेको तैयार हो रहे थे। सारथी कठिनाईसे उन्हें स्वाधीन रख रहा था। शासन देवका स्मरणकर वीर नतुवा रथपर सवार हुआ। पृथ्वीको कंपाते हुए घोड़े प्रबल वेगसे उड़ने लगे।

वह क़िलेके बाहर अपनी सेनामें सम्मिलित

हुआ। सामने शत्रु दल कटिबद्ध था, रणभेरी फिरसे भारी उत्साहके साथ बजी और युद्धका भीषण वेग प्रारम्भ हुआ।

युद्ध नवीन नहीं था, पैदलसे पैदल, हाथीसे हाथी और रथीसे रथी लड़ने लगे। मीलों तक गोला फेंकनेवाली तोपों, ज़हरीली गैसों और घातक यंत्रोंका वर्तमानमें जितना मान है इससे कहीं अधिक मान प्राचीन युद्ध पद्धतिमें मनुष्यको प्राप्त था।

(४)

हमारा रथी नायक युद्ध विद्यामें निपुण निर्भय प्रकृति शूरवीर और अपना कर्तव्य पालन करनेमें सदा सावधान रहनेवाला धार्मिक योद्धा था। सामने दूसरा रथी था, मोरचा माँडकर नतुवा उसके सन्मुख डट गया।

"इस युद्धके कारण हम नहीं, तुम्हारे राजाका राज्य-लोभ है, तुम हमारे ऊपर आक्रमण करने आए हो, तुम्हारी युद्ध तृष्णाका प्रतिकार और अपना संरक्षण करनेके लिए हमें इस युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा है। राजाज्ञासे निर्दोष सैनिकोंका वध करनेवाले ओ वीर! सावधान हो, आयुध ले और मेरे ऊपर वार कर" दाएँ हाथपर लटकते हुए तरकसमेंसे एक बाण निकालकर धनुषपर चढ़ाते हुए प्रतिद्वंदीको लक्षितकर नतुवाने कहा।

शब्दका उच्चारण समाप्त होनेके प्रथम ही सनसनाट करता हुआ एक बाण कवचको छेदकर नतुवाकी छातीमें भिद गया, प्रचंड ज्वालसे वीरका रक्त खौलने लगा, नेत्रोंसे ज्वलंत अग्निकी लपटें निकलने लगीं, वीरत्व उमड़ आया, नसोंको तोड़ कर बाहिर पड़नेके लिए रक्त उभरने लगा। डोर को कान पर्यंत खेंचकर उसने सामने एक भीषण बाणका प्रहार किया, बाणके वेगके साथ साथ उसका भीषण परिणाम हुआ। प्रतिस्पर्धीका रथ टूटा, घोड़ा मरा, रथवाह कभिदा और सवारकी छातीको तोड़ता हुआ तीर उस पार निकल गया।

नतुवाका कर्तव्य पूर्ण हो चुका। उसने मातृ-भूमिका ऋण चुका दिया, छातीमें से तीर निकालते ही प्राण निकल जायेंगे। अब युद्धको आगे चलानेके लिए वह असमर्थ हो चुका था।

(५)

युद्ध भूमिके समीप एक वृक्ष था, वह रथसे उतरा और शस्त्रास्त्र उतार डाले। पद्मासन लगाया, सन्यास ग्रहण किया और जागृत आत्मा के ज्वलंत भावोंमें तन्मय होगया। उसने तीर निकाला, रक्तकी धार बह उठी। मानव-जीवन कृतार्थ करने वाले दृढ़ प्रणी-कर्मठ, वीर नतुवाने कर्तव्य परायणताकी जागृत ज्योतिके सामने, उपवासका पारणा पूर्ण किए बिना ही, खुशी खुशी इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

सुख सम्पत्तिको लात मारने वाले, शरीरसे ममत्व हटा अपने कर्तव्य पालनमें अटल रहने वाले, उज्वल अहिंसाके उच्च आदर्श पर निश्चल रह स्वदेश संरक्षणकी आज्ञा शिरोधार्य करने और युद्ध भूमिमें-कर्मभूमिमें प्राण त्यागने वाले ओ विजेता जैन वीर! तुझे सहस्रों धन्यवाद हैं।

सरल योगाभ्यास

[लेखक—श्री हेमचन्द्रजी मोदी]

'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी सँयुक्त किरण नं० ८-९-१० में मैंने 'योगमार्ग' शीर्षक एक लेख लिखा था और उसमें योगविद्याके महत्व और उसके इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला था। अब मैं 'अनेकान्त' के पाठकोंको योगाभ्यासके कुछ ऐसे सरल उपाय बतलाना चाहता हूँ जिनसे इस विषयमें रुचि रखनेवाले सज्जन ठीक मार्गका अनुसरण करते हुए योगाभ्यासमें अच्छी प्रगति कर सकें और फलतः शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंका विकासकर अपने इष्टकी सिद्धि करनेमें समर्थ हो सकें। लेखमें इस बातका विशेष ध्यान रखा गया है कि हरेक श्रेणीके लोग गृहस्थ, ब्रह्मचारी, मुनि आदि सब ही इससे लाभ उठा सकें। गृहस्थोंके लिये ऐसे अभ्यास दिये जायेंगे जिन्हें वे बिना अड़चनके और बिना कोई खास समय दिये कर सकें; तथा जिनके पास समय है उनके लिये ऐसे अभ्यास दिये गये हैं जिनसे कमसे कम समयमें अधिकसे अधिक लाभ उठाया जा सके। साथ ही, मौके मौकेपर मैंने अपने अल्प समयके अनुभवोंका हाल भी लिख दिया है, जिनसे कि मुमुक्षुओंको सहायता मिल सके। वास्तवमें योग ही एक ऐसी विद्या है जिसकी सबको समानरूपसे आवश्यकता है। भारतवर्षके सभी विज्ञानों—सभी शास्त्रों का अन्तिम लक्ष्य और यहाँ तक कि जीवनका भी अंतिम लक्ष्य मोक्ष है, और योग वह सीढ़ी है जिससे होकर ही हरेकको—चाहे वह मुनि हो या गृहस्थी, वैयाकरण हो या नैयायिक और चाहे वैद्य हो अथवा अन्य और कोई—गुज़रना पड़ता है। योगका ही मोक्षसे सीधा सम्बन्ध है। श्री हरिभद्रसूरि कहते हैं:—

विद्वत्तायाः फलं नान्यत्सद्योगाभ्यासतः परम्।
तथा च शास्त्रसंसार उक्तो विमलबुद्धिभिः ॥५०७

—योगबिन्दु

अर्थात्—योगाभ्याससे बढ़कर विद्वत्ताका और कोई फल नहीं है; इसके बिना संसारकी अन्य वस्तुओंके समान शास्त्र भी मोहके कारण हैं, ऐसा विमलबुद्धियोंने कहा है।

सम्यग्ज्ञानकी विरोधिनी तीन वासनायें हैं और ये वासनायें बिना योगाभ्यासके नष्ट नहीं होतीं। जैसा कि कहा है—

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथा वत्तैव जायते ॥ ४। २
जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥१६॥

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमुक्तिकोपनिषद्

अर्थात्—लोकवासनासे, शास्त्रवासनासे और देहवासनासे जीवको ज्ञान नहीं होता। जन्म-जन्मान्तरोंसे अभ्यास की हुई संसारवासना बिना योगके चिरकालीन अभ्यासके क्षीण नहीं होती।

इस प्राक्कथनके बाद अब योगके प्रथम और सर्व प्रधान अभ्यासकी चर्चा की जाती है।

प्रथम अभ्यास

सदा जाग्रत रहना

सदा जाग्रत एवं सावधान रहना, यह योगकी पहली सीढ़ी और प्रथम शर्त है। इस विषयमें कुछ योग-निपुण आचार्योंके वाक्य जानने योग्य हैं:—

भवभुवणविभ्रान्ते नष्टमोहास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥

—श्रीशुभचंद्राचार्य–ज्ञानर्णव

अर्थात्—जन्म जन्मके भ्रमणसे भ्राँत हुए तथा मोहसे नष्ट और अस्त होगई है चेतना जिसकी, ऐसे जगत्में केवल योगी ही रातदिन जागता है।

कालानलमहाज्वालाकलापि परिवारिताः ।
मोहांधाः शेरते विश्वे नरा जाग्रति योगिनः ॥१०

—श्रीनंदिगुरुविरचित योगसारसंग्रह

अर्थात्—कालरूपी महा अग्निकी ज्वालाकी कलाओंसे घिरे हुए इस विश्वमें मोहाँध लोग सोते हैं और योगी लोग जाग्रत रहते हैं।

जा णिसि सयलहं देहियहं जोग्गिहु तहिं जग्गेइ ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ॥१७३

—श्री योगीन्दुदेव–परमात्मप्रकाश

अर्थात्—जो सब देहधारिजीवोंकी रात्रि है उसमें योगी जागता है और जहाँ सारा जगत् जागता है वहाँ योगी उसे रात्रि समझकर (योगनिद्रामें) सोता है।

योगका सर्वप्रथम उद्देश्य कर्मके परमाणुओंका संवर—अर्थात् उन्हें लगनेसे रोकना है। ये कर्मके परमाणु मनुष्यको अपने स्वरूपकी असावधानी–सुषुप्तिकी अवस्थामें ही लगते हैं। जबसे यह जीव संसारमें जन्मता है तबसे मृत्युपर्यन्त वह जागनेकी अपेक्षा सोता ही अधिक है। काम-क्रोधादि कषायें मनुष्यको इस सुषुप्त अवस्थामें ही सताती हैं; क्योंकि यदि उसे अपने स्वरूप का पूरा बोध हो और यह मालूम रहे कि मैं क्या कर रहा हूँ तो वह कषायोंके फेरमें कभी न फँसे। अक्सर यह देखा जाता है कि मनुष्य कोई काम करके उसी प्रकार पछताता है जिस प्रकार कि स्वप्नमें बुरी बातें देख कर जागृत होने पर दुःखी होता है। वह सोचता है कि उस समय किसीने मुझे जगा क्यों न दिया ? सावधान क्यों न कर दिया ? हाय ! मुझे ऐसे विचार क्यों उत्पन्न हुए। यही बात वह तब सोचता है जब कि काम-क्रोधादिके आवेशमें कुछ कर बैठता है।

यदि सूक्ष्मतासे देखा जाय तो संसारके बीजरूप कर्मोंकी जड़ यह असावधानता ही है। यदि यह निकल जाय तो नवीन कर्मोंका आस्रव बिल्कुल रुक जाय तथा पुराने कर्म बिना किसी प्रतिक्रियाके नष्ट होते चले जायँ। यह सावधानी या जाग्रति सबसे प्रधान योग है, इसके बिना और सब योग वृथा हैं; क्योंकि अक्सर देखा जाता है कि बहुतसे योगियोंमें संवर-निर्जराकी अपेक्षा आस्रव-बन्ध ही बढ़ जाता है।

अनेक बार यह ही देखनेमें आया है कि बहुतसे लोग काम-क्रोधादिका कारण न मिलने देनेके लिये जंगल-पहाड़ आदिका आश्रय लेते हैं; परन्तु स्वप्नोंके समय वे भी असंख्य कर्मोंका बन्ध कर लेते हैं। इस लिये योगीको चाहिए कि वह रात्रिको भी सावधान रहे। दिनकी अपेक्षा काम-क्रोधादि रिपु रातको ही अधिक सताते हैं। वैज्ञानिकोंका कथन है कि इसका सूर्यसे सम्बन्ध है।

योगके ग्रन्थोंमें जो यह जाग्रत रहनेकी क्रियाका उपदेश दिया है इसकी खोजमें मैंने बहुत दिन सोच-विचार और प्रयोगोंमें बितायें और तब वह क्रिया बड़ी मुश्किलसे मेरे हाथ लगी। यह क्रिया मैंने आज तक

किसी ग्रन्थमें नहीं देखी; क्योंकि योगग्रन्थोंमें अधिकांश बातें गुरुगम्य और अनुभवगम्य ही रक्खी गई हैं; पढ़ कर कोई अभ्यास नहीं कर सकता तथा राजयोगके सच्चे गुरु मिलना एक तरहसे असंभवसा है।

इस क्रियाके बतलानेके पहले निद्राका सूक्ष्म विश्लेषण करना आवश्यक है। यह विश्लेषण सांख्य-पद्धतिसे होगा।

निद्रा तीन प्रकारकी होती है—सात्विक, राजसिक तामसिक। इन सब प्रकारकी निद्राओंमें तमोगुणकी प्रबलता रहती है। जिसमें सत्वगुणकी ही पूर्ण प्रबलता हो उसे योगनिद्रा कहते हैं, वह इन तीन प्रकारोंसे जुदी है।

सत्वगुण आत्माका चैतन्यगुण है, इसमें निर्मलता और व्यवस्थिति रहती है। रजोगुण क्रियाशीलताका गुण है और तमोगुण निष्क्रियता, जड़ता और अँधकार का गुण है।

जिस निद्रामें तमोगुणका नम्बर पहला और सत्वगुणका दूसरा होता है उसे सात्विक निद्रा कहते हैं। जिस निद्रामें तमोगुणका नम्बर वही प्रथम, परन्तु रजोगुणका नंबर दूसरा होता है उसे राजसिक निद्रा कहते हैं, और जिसमें तमोगुणका नम्बर प्रथम तथा द्वितीय दोनों ही रूप है उसे तामसिक निद्रा कहते हैं।

सात्विक निद्राको सुषुप्ति कहते हैं, इसमें स्वप्न नहीं आते तथा 'मैं हूँ' इसका भान रहता है तथा जीव विश्रांति और सुखका अनुभव करता है:—

सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति।

—कृष्णयजुर्वेदीय कैवल्योपनिषद्।

अर्थात्—सुषुप्तिके समयमें तमोगुणसे अभिभूत होकर सब कुछ विलीन हो जाता है और जीव अपनेको सुखरूप अनुभव करता है।

राजसिक निद्रामें स्वप्न देखता है परन्तु इन स्वप्नों में वह द्रष्टा स्वप्न लोकके सृष्टाके रूपमें होता है और देख देखकर सुख-दुखका अनुभव करता है।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित-विश्वलोके।

—कैवल्योपनिषद्

अर्थात्—यह जीव स्वप्नमें अपनी मायासे बनाये हुए विश्वलोकमें सुख-दुःखका भोग करता है।

तामसिक सुषुप्तिमें मनुष्यको यह खयाल ही नहीं रहता कि मैं कौन हूँ और क्या कर रहा हूँ। उस समय विषयोंके आक्रमण होने पर वह विमूढ़-जड़के समान आचरण करता है। राजसिक सुषुप्तिमें अच्छे बुरेका कुछ ज्ञान रहता है परन्तु तामसिक निद्रामें वह नहीं रहता।

सात्विक निद्राके बाद मनुष्यमें फुर्ती रहती है और वह खुश होता है। राजसिक निद्राके बाद मनुष्य कुछ अन्यमनस्क रहता है तथा उसे विश्रांतिके लिये अधिक सोनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु तामसिक निद्राके बाद मनुष्यको ऐसा अनुभव होता है मानो वह किसी वजनदार शिलाके नीचे रात्रि भर दबा पड़ा रहा हो।

योगग्रंथोंमें मनुष्य शरीरके तीन विभाग किये हैं, जिन्हें तीन लोकका नाम दिया गया है तथा कहा गया है कि मन या लिंगात्माके सहित प्राण जिस लोकमें जाते हैं आत्मा वहांके सुख-दुःखोंका अनुभव करता है। इस विषयमें 'योगमार्ग'-शीर्षक लेख देखें। स्वप्नके समय प्राण इन भिन्न भिन्न लोकोंमें विहार करता है, जिससे विचित्र विचित्र दृश्य देखता है:—

पुरत्रयो क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्।

—कैवल्योपनिषद्

सोनेके पहले उत्तम विचारोंसे तथा शीर्षासनके अभ्याससे अथवा कमरके नीचे तकिया रखकर सोनेसे भी स्वप्न नहीं आते, क्योंकि इनसे प्राणोंकी गति ऊर्ध्व होती है, यह मेरा खुदका अनुभव है। प्राणोंकी गति निम्न होनेसे कामुक स्वप्न आते हैं और उत्तेजना होती है।

हमेशा जाग्रत होनेके अभ्यासके लिये सबसे पहले जाग्रत अवस्थामें भी जो असावधानी रहती है उसे दूर करना चाहिए। क्योंकि—

पुनश्च जन्मांतरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।

—कैवल्योपनिषद्

अर्थात्—जन्मांतरोंके कर्मयोगके कारण वही जीव जगा हुआ भी सोता है। सदा सतत् जाग्रत रहनेका अभ्यास करनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह सुबह उठनेके बादसे रात्रिको सोने तक हर एक काम करते समय मनन-पूर्वक इस बातका खयाल करता रहे कि वह क्या कर रहा है। उठते समय मन ही मन जाप करे कि मैं उठ रहा हूँ। बैठते समय जाप किया करे कि मैं बैठ रहा हूँ। इतने पर भी यदि खयाल भूल जाय, तो यह जाप ज़ोर ज़ोरसे बोला जाना चाहिए, जिसमें सबको सुन सड़े; परन्तु मन ही मन जाप करने का फल अधिक है। इस जपका शुभ परिणाम तुम्हें एक ही दिनमें मालूम होगा। यहाँ तक कि रात्रिमें सोते वक्त ही तुम्हारे अन्दर यह जाप चालू रहेगा तथा स्वप्न यदि कभी आवेंगे तो उसमें भी तुम अपनेको जाप करते हुए पाओगे। उस समय तुम्हारी आंतरिक सद्-सद्विवेकबुद्धि जाग्रत रहेगी और हरेक खोटे कामोंसे बचाती रहेगी। जब तुम्हारी उठनेकी इच्छा होगी तब ही तुम्हारी नींद खुलेंगी और इस क्रियाके फल-स्वरूप तुम्हें आत्म दर्शन भी हो सकेगा, जो कि असली सम्यग्दर्शन है। इस अभ्यासपूर्वक तुम जो भी सांसारिक व्यावहारिक काम करोगे उन सबमें तुम्हारी अत्यल्प आसक्ति होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि कर्मोंका आस्रव अत्यल्प हो जायगा। यह कहना भी अत्युक्त न होगा कि किसी समय आस्रव बिल्कुल बन्द भी हो जायगा; क्यों कि—

विषयैर्विषयस्थोऽपि निरासंगो न लिप्यते।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव ॥ ६०।६
नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुंजानोऽपि न बध्यते।
संखः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि ॥१७।४
द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभः।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं धियासुभिः॥६

—अमितगति-योगसार

अर्थात्—विषयोंमें रचापचा होने पर भी निरासंग (अनासक्त) जीव उनसे उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि विशुद्धात्मा स्फटिक कीचड़में रह कर भी उससे लिप्त नहीं होता। नीराग मनुष्य अप्रासुक द्रव्य खाकर भी उससे बद्ध नहीं होता। कीचड़में रहकर क्या शंख काला हो जाता है? बाह्य वेशादिसे जो निवृत्त मालूम होता है उसकी पूजा संसारी लोग करते हैं, परन्तु मोक्ष जानेकी इच्छा रखने वाले ऐसे मनुष्यकी पूजा करते हैं जो भावसे निवृत्त है।

हम ऐसे कई गृहस्थाश्रमी साधुओंका चरित्र सुन चुके हैं, जो संसारमें रहकर भी उससे निर्मोही रह सके, परंतु ऐसे मनुष्य करोड़ोंमें एक दो ही होते हैं। महात्मा गांधी ऐसे पुरुषोंमेंसे एक हैं। करोड़ों रुपये आने जाने में इन्हें हर्ष शोक नहीं होता और न अपने कार्यके पलट जानेसे ही इन्हें हर्ष-शोक होता है।

इस योगकी साधक एक हठयोगकी क्रिया भी वर्णित कर देना हम यहाँ उचित समझते हैं। हठयोग हमेशा राजयोगका सहायक होताहै। वह अकेला कोई कार्य सिद्ध नहीं कर सकता तथा राजयोग भी हठयोगके बिना अपूर्ण और समयसाध्य तथा अनेकबार असंभव हो जाता है।

किसी समतल-स्थानमें चित्त लेट जाओ तथा नख-पर्यंत समस्त नाड़ियोंमेंसे प्राणशक्ति—मन-खींच कर नाभिमें,हृदयमें अथवा भ्रूमध्यमें धारण करनेकी कोशिश करो, तथा ऐसा करते समय पाँवके अंगूठेको स्थिरदृष्टि-से देखते रहो। ऐसा करनेसे श्वासोच्छ्वासकी गति धीमी पड़ जायगी तथा हाथपैर हिलाने डुलानेसे मुर्देके समान दिखेंगे-डोलेंगे तथा धीरे धीरे एक मीठी निद्रासी आ जावेगी। इस निद्राका नाम 'योगनिद्रा' या 'मनो-न्मनी' है और करीब १ माहके अभ्याससे सिद्ध हो जाती है। यह बच्चोंको सबसे जल्दी, जवानोंको देरसे और बूढ़ोंको बहुत देरसे सिद्ध होती है। इस अभ्या-सके करनेके पहले शवासनका अभ्यास करना चाहिए। इस आसनमें हाथ-पैर आदि अंग इतने ढीले छोड़ने पड़ते हैं कि वे मुर्देके अंगोंके समान हो जाते हैं। किसी मित्रसे हाथ-पैर हिलवा-डुलवाकर इस आसनकी परीक्षा करवा लेनी चाहिये।

इस अभ्यासके सिद्ध होने पर तुम देखोगे कि जितनी विश्राँति और लोग दस घंटेकी नींदसे भी नहीं पाते उतनी विश्रान्ति तुम दो घंटेकी नींदसे ही प्राप्त कर सकोगे। नैपोलियनको यह निद्रा सिद्ध थी, वह २४-२४ घंटेकी थकावट घोड़े पर चढ़े-चढ़े २०–२५ मिनिटकी नींदसे निकाल लेता था। सुनते हैं कि महात्मा गाँधीको भी यह निद्रा सिद्ध है; योगियोंमें यह साधारण वस्तु है।

दूसरा अभ्यास

प्रेमयोग

जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहारकी सांस लेत बिनु प्रान॥

—कबीर

प्रेमयोगके विषयमें सबसे पहले घेरण्डसंहिताका निम्न वाक्य जानने योग्य है:—

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिंतयेत् प्रेमयोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनंदाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः संभवेत्तेन संभवेच्च मनोन्मनी॥

इसमें बतलाया है कि—अपने हृदयमें इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करके परम आह्लादपूर्वक प्रेमयोगसे उसका चिंतवन करे। ऐसा करनेसे इस सारे शरीरमें रोमांच हो आता है, आँखोंसे आनंदके अश्रु गिरने लगते हैं और कभी कभी समाधि लग जाती है तथा मनोन्मनी (योगनिद्रा) भी संभव होती है।

वास्तवमें आत्माका आत्माके प्रति जो आकर्षण है उसका नाम प्रेम है। प्रेम वह आग है जो न जाने कितने कालसे और न जाने किसके लिये मनुष्यमात्रको विकल कर रही है। कभी कभी यह आग किसीके संगसे, किसीके स्पर्शसे कुछ समयके लिये ठंडी हुईसी मालूम होती है परन्तु फिर वह उससे कहीं तीव्र गतिसे प्रज्वलित हो उठती है! कवियोंमें वह काव्यरूपमें, तप-स्वियोंमें तपरूपमें, योगियोंमें ध्यानरूपमें, पक्षियोंमें गानरूपमें तथा सिद्धोंमें मैत्री, करुणा, क्षमा और अ-हिंसारूपमें फूट पड़ती है।

विश्वमें प्रेमके सिवाय एक और भी आकर्षण है जो लोकमें कभी कभी भूलसे प्रेमके नामसे पुकारा

जाता है। यह आकर्षण प्रत्येक जडवस्तुमें है। काँचके किन्हीं भी दो समतल टुकड़ोंको एक दूसरेपर रखनेसे वे चिपकसे जाते हैं और ज़ोर देनेपर छूटते हैं। इसी प्रकार लोहेके टुकड़ोंमें, लोहे और लोहकांत (चुंबक) में, लोहकांतके विभिन्न ध्रुवों (Poles) में तथा एक ही प्रकारकी दूसरेसे विभिन्न गुण वाली सृष्टिओं—नर और मादाओंमें—यह आकर्षण बहुत ही प्रबल है।

मनुष्य आदि उच्च प्राणियोंमें उक्त दोनों प्रकारके आकर्षणोंका एक विचित्र संमिश्रण है। अनेक बार देखा जाता है कि आध्यात्मिक प्रेम अनेक बार इस शारीरिक जड मोहमें परिणत होता है और शारीरिक प्रेम अनेक बार आध्यात्मिक रूप ले लेता है। स्त्री-पुरुषका आकर्षण इसी प्रकारका है।

जडपदार्थोंमें जो आकर्षण है वह प्रेमका असली रूप नहीं है वह उसका बहुत ही विकृत और तामसी रूप है। आध्यात्मिक प्रेम ही सत्य है और सब प्रेम झूठ हैं, माया हैं और मोह हैं। आध्यात्मिक प्रेमग्राह्य है और जडप्रेम त्याज्य है। आध्यात्मिक प्रेम आत्मिक उन्नतिका कारण है और जडप्रेम अवनतिका।

आत्माके विकासके लिये प्रेमकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। वह विश्वके प्रत्येक प्राणीके प्रति प्रेम ही था जिसने भगवान महावीर और बुद्धको महान् बनाया। वह सीताके प्रति प्रेम ही था जिसने रामचन्द्रजीको महान् बनाया और जिसे कवि लोग गाते गाते नहीं थकते। शारीरिक प्रेम भी वियोग होनेके बाद आध्यात्मिक प्रेममें परिणत हो जाता है। प्रेमका सौन्दर्य वियोगमें ही है, संयोगमें तो उसका शतांश भी नहीं है। मेघदूत इसी लिये सर्वोत्तम काव्य है—उसमें हमें उस चिरंतन वियोगका एक आभास मिलता है और आत्मा उसे अतृप्त पिपासासे पीती जाती है।

जिन लोगोंमें उस सनातन वियोगकी चिरंतन अग्नि जल रही है वे ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, दार्शनिक हैं और योगी हैं। जिनमें वह अग्नि विभ्रांतिसे दब गई है—जिनकी विषयलालसाओंने उसे दबा दिया है—जिनके कर्म उसे जानने नहीं देते उनका कर्तव्य है कि वे भ्रांति दूर करें—विषयोंसे बचें। यह वह अग्नि है जिसके तीव्र होनेपर सब कर्ममल काफूरके समान उड़ जाते हैं। कहा भी है—**"प्रेमाग्निना दह्यते सर्वपापं।"**

प्रेमके विकासके लिये योगद्वारा प्रदर्शित जुदी-जुदी प्रकृतिके लोगोंके लिये साधककी योग्यतानुसार जुदे-जुदे मार्ग हैं।

सात्विक प्रकृतिके साधकोंके लिये ईश्वर-भक्ति या ईश्वर-प्रेम उत्तम उपाय है, ईश्वरप्रेम क्या है और किस तरह किया जाना चाहिए, यह बतानेके पहले यह जानना आवश्यक है कि दरअसलमें ईश्वर है क्या वस्तु ?

ईश्वर शब्द प्राचीनसे प्राचीन वेदादि ग्रंथोंमें तीन अर्थोंमें आया है, इनको समझ लेनेके बाद इनका समन्वय अनेकान्त दृष्टिसे किया जा सकता है।

ईश्वर या ब्रह्मका प्रथम अर्थ आध्यात्मिक है। इस अर्थमें आत्मा ही शाश्वत और अविनाशी ब्रह्म है। यथा—

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि।
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो विश्वविद्वेदविदेव चाहं।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्।
अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनं।
तस्मादेव विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते॥

—अथर्ववेदीया कैवल्योपनिषद्

ईश्वरका दूसरा अर्थ आधिभौतिक या सामाजिक

है। इस अर्थमें ईश्वर राष्ट्रकी, समाजकी, देशकी अमूर्त आत्मा है जिसके द्वारा राष्ट्र, समाज या देशका प्रत्येक व्यक्ति स्पंदित, प्रेरित या प्रभावित होता है। इस राष्ट्र-पुरुष, समाज-पुरुष, देश-पुरुष या विश्व-पुरुषके जाग्रत या सुप्त होनेपर जुदे जुदे सत्, कलि आदि युगोंका आविर्भाव होता है, ऐसा ऐतरेय-ब्राह्मणमें लिखा है। इस समाज-पुरुष या राष्ट्र-पुरुषकी जाग्रतिके चिह्न हम वर्तमान भारतीय आन्दोलनमें देख रहे हैं। यह पुरुष समष्टिरूप है,इसीलिये कहा है कि—

सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

—ऋग्वेद-पुरुषसूक्त

अर्थात्—यह हज़ार सिरवाला, हज़ार आँखोंवाला और हज़ार पैरों वाला पुरुष है। जिसप्रकार हम यह कहें कि इस सभा या परिषद्के हज़ार सिर हैं अथवा भारत माताके ३० कोटि बच्चे, उसी प्रकारका यह कथन है। इस पुरुषके—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥

—ऐतरेय ब्राह्मणः।

सोनेपर कलि, जंभाई लेनेपर द्वापर, खड़े होनेपर त्रेता और चलने लगनेपर सत्युग होता है। वर्णोंके वर्गीकरणके बाद जिस समाज-पुरुष—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
पादौ यदस्याश्रिताः शूद्राः तस्मै वर्णात्मने नमः॥

के ब्राह्मण मुखरूप हैं, क्षत्रिय भुजारूप हैं, वैश्य पेटरूप हैं तथा शूद्र पैरोंके आश्रित हैं, उस वर्णात्माको मेरा नमस्कार है।

ईश्वरका तीसरा अर्थ आधिदैविक है। जिस प्रकार जैन लोग त्रिलोकको पुरुषाकार मानते हैं उसी प्रकार वेदोपनिषद् और योगके ग्रन्थोंमें भी माना है। इसके आगे उनकी कल्पना इतनी और आगे बढ़ी है कि इस विराट् पुरुषाकृतिमें किसी नियंताशक्ति आत्माकी आवश्यकता है, जिसकी कल्पना विश्वप्रकृतिके रूपमें ही की गई है। यथा—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्चदेवाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

—मुण्डकोपनिषद्।

सर्वा दिशः ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्
एवं सदेवो भगवान्वरेण्यो विश्वस्वभावादधितिष्ठत्येकः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्।

अर्थात्—जिसकी मूर्धा अग्नि है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, दिशायें कान हैं, वचनादि देव हैं, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, पैरोंमें पृथ्वी है ऐसा सर्वलोकाँतरात्मा है। ऊपर नीचे बाजूकी सारी दिशाओंको प्रकाश करने वाला जो भगवान् वरेण्यदेव है वह विश्वके रूपमें अवस्थित है।

इस विश्वको परिचालित करनेवाली वह शक्ति कौनसी है, इस विषयमें मतभेद हैं। जडवादी वैज्ञानिक उसे 'विद्युत' मानते हैं तथा कोई उसे 'सूर्य' मानते हैं, तथा अध्यात्मवादी उसे 'सत्य' अथवा 'अहिंसा' मानते हैं; क्योंकि इन्हीं नैतिक नियमोंसे सब बंधे मालूम होते हैं। महात्मा गाँधी 'सत्य' को ही परमेश्वर मानते हैं। कुछ भी हो, जैनधर्मसे इनका कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि इनमेंसे कोई भी इस ईश्वरको मनुष्यके समान चेतन तथा रागद्वेषपूर्ण नहीं मानता। जैनधर्म तो बाइबल, कुरान और भारतीय पाशुपत और वैष्णवमतके रागद्वेषी व्यक्तिगत ईश्वरका विरोधी है।

जैनधर्मानुसार मुक्त आत्माएँसब एकसी ही हैं। उनमें जो भेद था वह काल और कर्मकृत् था, और

काल और कर्मनष्ट हो जानेपर वे एक ही हैं क्योंकि कालकर्म कुछ जीव थोड़े ही हैं। जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

जीवहं भेउ जि कम्मकिउ, कम्मुवि जीउ ण होइ।
जेण विभिण्णउ होइ तहं, कालु लहेविणु कोइ॥ २३३
एकु करे मण बिण्णि करि, मं करि वण्णविसेसु।
इक्कइं देवइं जिं वसइ, तिहुयणु एहु असेसु॥ २३४

—योगीन्दुदेव-परमात्मप्रकाश

अर्थात्—जीवोंमें जो भेद है वह कर्मोंका किया हुआ है, कर्म जीव नहीं होता किसी कालको पाकर उनके द्वारा (कर्मों द्वारा) वह विभिन्न होता है। इसलिये, हे योगी! आत्माको एक ही समझ उन्हें दो मत कर और न उसमें कोई वर्ण भेद कर। यह अशेष त्रिभुवन एक ही देव-द्वारा वसा है ऐसा समझ। अर्थात् सब जीवोंमें आत्माका दर्शन कर।

ईश्वरके उपर्युक्त अर्थों पर विचार करनेसे ईश्वर-प्रेमका मार्ग शीघ्र हाथ लग जायगा। सब जीवोंमें आत्माका दर्शन करो—समाजकी, देशकी तथा विश्व की प्रत्येक व्यष्टि पर प्रेम करो और उसकी सेवा करो। ईश्वरको पहिचाननेका सेवासे बढ़कर स्पष्ट कोई उपाय नहीं है। बुद्धदेवने तो अपने भिक्षुओंको यहाँ तक उपदेश दिया है कि यदि तुम्हें समाधि-द्वारा मोक्षकी भी प्राप्ति होने वाली ही हो और उस समय किसीको तुम्हारी सेवाकी आवश्यकता हो तो समाधि छोड़कर पहले उस प्राणीकी सुश्रुषा करो। मोह चाहे वह मोक्षका ही क्यों न हो, मोक्षका विघातक ही है। इसी प्रकार यदि देश तुम्हारा बलिदान चाहता है तो कायर बनकर यदि तुम मुनि हो जाओ और समाधि साध कर बैठो तो भी तुम्हें कुछ मिलने वाला नहीं है; क्योंकि कायरतासे परब्रह्म प्राप्त नहीं होता। कायरता अशक्तकी वासना है। श्रीयोगीन्दुदेवने परमात्मप्रकाशमें अच्छा कहा है—

परमसमाहि धरेवि मुणि, जे परबंभु ण जंति।
ते भवदुक्खइं बहुविहई, कालु अणंतु सहंति॥३२४॥

अर्थात्—परमसमाधिको धारण करके भी जो मुनि परब्रह्मको नहीं प्राप्त होते वे अनेक तरहके संसार-दुःख अनंतकाल तक सहते हैं। वास्तवमें उनकी विषय-वासना नष्ट नहीं होती, चाहे वह मोक्षकी ही क्यों न हो; क्योंकि वासना अशक्तिसे ही उत्पन्न होती है।

बुद्धदेवने योगाभ्यासको गौण और सेवाधर्मको मुख्य रक्खा है, परंतु जैनादि धर्मोंमें दोनोंको समान कोटिमें रक्खा मालूम होता है और मोक्षके लिये दोनोंका साथ साथ अभ्यास आवश्यक माना है।

जैनधर्म तथा वैदिक धर्ममें सेवामार्गके लिये तथा निम्न प्रकृतिके लोगोंमें प्रेमके विकासके लिये गृहस्थाश्रम उपयुक्त माना गया है। राजसिक और सामसिक प्रकृतिवालोंके कठोर, स्वार्थी निष्प्रेम हृदय प्रायः विवाह के द्वारा ही मृदु, निःस्वार्थ और प्रेमसे भीने बनाये जा सकते हैं। सात्विक ईश्वर-प्रेमके लिये इन्हीं वस्तुओंकी आवश्यकता है। शरीर और स्वास्थ्य पर भी इस प्रेमका बड़ा अच्छा असर होता है। पहले जो दुर्बल, शोकग्रस्त और दुखी होते हैं उनमें अधिकांश विवाहके बाद हृष्ट-पुष्ट, खुश और संतुष्ट मालूम होने लगते हैं। मस्तिष्क-विद्या (Phrenology) तथा शरीर-विद्याके आचार्योंका कथन हैं कि प्रेमका असर शरीरके प्रत्येक अवयव पर अपूर्व दिखाई देता है। हृदय और फुप्फुसपर अजब प्रभाव पड़ता है। मस्तक और हृदय इन दोनोंको एक कर देनेकी मंथन क्रिया शुरू हो जाती है। हृदयमें रुधिरका प्रवाह तीव्र वेगसे बहने लगता है, फुप्फुसोंमें गतिका संचार होता है और मुख-गाल-ओष्ठ तथा नयन इनमें प्रेमकीलाली दौड़ आती है। मस्तिष्क

के अन्दरकी प्राण-ग्रंथिका प्रदेश एक अजब प्रकारका कार्य करने लग जाता है, जिससे जिजीविषाकी वृद्धि होती है। प्रेमीके सहवासमें सूखी रोटी भी मीठी लगती है, प्रेमके भावसे परोसा अन्न शुभ परिपाकको प्राप्त होकर शुभ भावोंको प्रदीप्त करनेमें बड़ा उपयोगी होता है। इन भावोंके कारण मन अनेक सुखानुभव करताहै, जिससे शरीरका प्रत्येक अवयव संतुष्ट होता है और अपना काम अच्छी तरह करता है।

इससे पचनेन्द्रियों तथा अनेक संचालक मस्तिष्क के अवयवों पर गहरा लाभदायक असर होता है। इस प्रकार शरीरकी प्रत्येक शक्ति वृद्धिंगत होती है। रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा शुक्र और ज्ञानतंतु पुष्ट होते हैं और शरीर देखनेमें सुंदर और मधुर हो जाता है। यकृत, पित्ताशय, और स्थूलांत्र पर भी प्रेमका बड़ा लाभकारी असर पड़ता है। अनेक यकृत और स्थूलांत्र के रोगी विवाहसे अच्छे हो गये हैं। उत्कृष्ट और पवित्र प्रेमका असर हृदयकी बीमारियोंको दूर करनेमें दिव्यौषधि के रूपमें होता है। मंदाग्नि और पाचन क्रियाके अनेक रोग शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

ऊपरके वर्णनको पढ़कर कोई यह न समझले कि ये सब फायदे प्रेमके न होकर वीर्यपातके हैं। ऐसा समझना नितान्त भूल तथा भ्रम होगा; क्योंकि वीर्यपातसे इन फायदोंमें उलटी कमी होने लग जाती है और प्रेमके अच्छे असरको वीर्यपातका बुरा असर नष्ट कर देता है। यही कारण है कि जो दम्पति शुरूमें फायदा उठाते हुए मालूम पड़ते थे वे ही धीरे धीरे रोगी और दुर्बल हो जाते हैं। जिन दम्पतियोंमें असली प्रेम न होकर विषयोंका प्रेम होता है उनकी भी यही दशा होती है। परन्तु अनेकबार प्रेमका फ़ायदा अन्य प्रकारके नुकसानोंकी अपेक्षा अधिक भारी होनेके कारण वीर्यपातका नुकसान नहीं मालूम होता। प्रेमसे अधिकतम लाभ उठानेके लिये ब्रह्मचर्यसे रहना ज़रूरी है। प्रेमके बंधनमें बँधे हुए स्त्री पुरुष पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखते हुए उपर्युक्त फायदे अधिकतम मात्रामें प्राप्त करते हैं। जिन मनुष्योंकी प्रकृति उन्हें ईश्वरप्रेममें लीन नहीं होने देती उनके लिये ही इस प्रकारके प्रेमकी व्यवस्था की गई है। जो ईश्वर-प्रेममें लीन रह सकते हैं वे प्रेमके सम्पूर्ण लाभ ईश्वरप्रेमसे ही प्राप्त कर लेते हैं। प्रेमका असर चाहे वह किसी प्रकारका क्यों न हो स्वास्थ्य और मनपर एक ही प्रकारका होता है।

ईश्वरीय प्रेम निरंकुश और स्वतंत्र है, परन्तु अन्य प्रेम अन्य व्यक्तिपर आश्रित है। ईश्वरीय प्रेम प्रत्युत्तर की आशा नहीं रखता, परन्तु अन्य प्रकारका प्रेम प्रत्युत्तरके बिना नष्ट हो जाता है। इस प्रकारके असंतुष्ट प्रेमका असर शरीरपर संतुष्ट प्रेमसे ठीक उल्टा पड़ता है। अधिकाँश विधवायें बिना किसी दृष्ट कारणके यकृत, हृदय, और फुप्फुसकी बीमारियोंसे पीड़ित रहती हैं, इसका कारण असंतुष्ट प्रेम है--वे बेचारी पतिप्रेम को ईश्वरप्रेममें लीन नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार पुरुष भी असंतुष्ट प्रेमके कारण अनेक बीमारियोंके शिकार होते हैं और इंग्लैंड वगैरह देशोंमें तथा भारत में विवाहितोंकी अपेक्षा कुँआरोंकी अधिक मृत्यु संख्या होनेका कारण भी यही है। असंतुष्ट प्रेम आत्महत्याकी प्रवृत्तिको उत्तेजित करता है।

प्रेमके विकासका राजमार्ग तो विवाह ही है। अन्य मार्ग साधारण लोगोंके लिए सुलभ नहीं हैं, परन्तु इस में एक बड़ी भारी अड़चन है। अनेक बार मनुष्य इस से तीव्र मोहमें पड़ जाता है और विषयोंका गुलाम हो जाता है। विवाह विषय-वासनाओंको जीतनेका—निर्विकार बननेका--मार्ग होना चाहिए, न कि नारकी होनेका। इस अवस्थामें इन्द्रियां किस प्रकार सम्पूर्ण रीतिसे जीती जा सकती हैं तथा नाडि-तन्तुओंमें प्रेमकी विद्युत् उत्पन्न कर किस प्रकार आध्यात्मिक लाभ उठाया जा सकता है, इस पर आगेके लेखमें विचार किया जायगा तथा राजयोग, लययोग और हठयोगकी कुछ क्रियाएँ भी बताई जाएँगी। यहाँ पर एक सूचना कर देना चाहता हूँ और वह यह है कि पाठक यदि विवाहित हों तो देखें कि बीच बीचमें कुछ दिनके लिये अपनी स्त्रीको उसके मायके भेज देनेसे किस प्रकार उनमें प्रेम तीव्र होता है और निर्विकारता आती है। सालमें ऐसा २-३ दफे एक एक दो दो महीनेके लिये करना अच्छा है। इससे आध्यात्मिक प्रेम भी बढ़ेगा।

होलीका त्यौहार

[सम्पादकीय]

भारतके त्यौहारोंमें होली भी एक देशव्यापी मुख्य त्यौहार है। अनेक धर्म-समाजोंमें इसकी जो कथाएँ प्रचलित हैं वे अपनी अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको लेकर भिन्न भिन्न पाई जाती हैं। यहाँ पर उन सबके विचारका अवसर नहीं है। होलीकी कथाका मूलरूप कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु यह त्यौहार अपने स्वरूपपरसे ममता और स्वतन्त्रताका एक प्रतीक जान पड़ता है; अथवा इसे सार्वजनिक हँसी-खुशी एवं प्रसन्न रहनेके अभ्यासका देशव्यापी सक्रिय अनुष्ठान कहना चाहिये।

इस अवसरपर हरएकको बोलने, मनका भाव व्यक्त करने, स्वाँग-तमाशे नृत्य गानादिके रूपमें यथेष्ट चेष्टाएँ करने, आनन्द मनाने और मानापमानका खयाल छोड़कर—बड़ाई-छोटाई अथवा ऊँचता नीचताकी कल्पना-जन्य व्यर्थका संकोच त्यागकर—एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेकी स्वतन्त्रता होती है। साथ ही, किसीके भी रंग डालने, धूल उड़ाने, हँसी मज़ाक करने तथा अप्रिय चेष्टाएँ करने आदिको स्वेच्छापूर्वक खुशीसे सहन किया जाता है—अपनी तौहीन(मानहानि आदि)समझकर उस पर क्रोधका भाव नहीं लाया जाता, न अपनी पोज़ीशनके बिगड़नेका कोई खयाल ही सताता है, और यों एक प्रकारसे समता-सहनशीलताका अभ्यास किया जाता है। अथवा यों कहिये कि इसके द्वारा राष्ट्रके लिये विघातक ऐसे राग द्वेषादि मूलके अनुचित भेद-भावोंको कुछ समयके लिये भुलाया जाता है— उन्हें भुलाने तथा जलाने तकका उपक्रम एवं प्रदर्शन किया जाता है—और इस तरह राष्ट्रीय एकताको बनाये रखने अथवा राष्ट्रीय समुत्थानके मार्गको साफ़ करनेका यह भी एक क़दम अथवा ढंग होता है। 'होलीकी कोई दाद फर्याद नहीं' यह लोकोक्ति भी इसी भावको पुष्ट करती है, और इसलिये इस त्यौहारको अपने असली रूपमें समता और स्वतन्त्रताका रूपक ही नहीं किन्तु एक प्रतीक कहना ज़्यादा अच्छा मालूम होता है।

समय भी इसके लिये अच्छा चुना गया है, जो कि वसंत ऋतुका मध्यकाल होनेसे प्रकृतिके विकासका यौवन-काल है। प्रकृतिके इस विकाससे पदार्थ पाठ लेकर हमें उसके साथ साथ अपने देश-राष्ट्र एवं आत्माका विकास अथवा उत्थान सिद्ध करना ही चाहिये। उसीके प्रयत्नस्वरूप—उसी लक्ष्यको सामने रख कर—यह त्यौहार मनाया जाता था, और तब इसका मनाना बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। परन्तु खेद है कि आज वह बात नहीं रही! उसका वह लक्ष्य अथवा उद्देश्य ही नहीं रहा जो उसके मूलमें काम करता था! उसके पीछे जो शुभ भावनाएँ दृष्टिगोचर होती थीं और जिन्हें लेकर ही वह लोकमें प्रतिष्ठित हुआ था उन सब का आज अभाव है!! आज तो यह त्यौहार इंद्रिय-विषयोंको पुष्ट करनेका आधार अथवा चित्तकी जघन्य-वृत्तियोंको प्रोत्तेजन देनेका साधन बना हुआ है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंके ही पतनका कारण है—त्यौहारके रूपमें उसका कोई भी महान् ध्येय सामने नहीं है। इसीसे होलीका वर्तमान रूप विकृत कहा जाता है, उसमें प्राण न होनेसे वह देशके लिये भाररूप है और इसलिये उसे उसके वर्तमान रूपमें मानना उचित नहीं है। उसमें शरीक होना उसके विकृत रूपको पुष्ट करना है।

यदि समता और स्वतन्त्रताके सिद्धान्त पर अव-

लम्बित राष्ट्रीय एकता आदिकी दृष्टिसे चित्तकी शुद्धि को क़ायम रखते हुए यह त्यौहार अपने शुद्ध स्वरूपमें मनाया जाय और उससे जनताको उदारता एवं सहनशीलतादिका सक्रिय सजीव पाठ पढ़ाया जाय तो इसके द्वारा देशका बहुत कुछ हित साधन हो सकता है और वह अपने उत्थान एवं कल्याणके मार्ग पर लग सकता है। इसके लिये ज़रूरत है काँग्रेस-जैसी राष्ट्रीय संस्था के आगे आनेकी और इसके शरीरमें घुसे हुए विकारों को दूर करके उसमें फिरसे नई प्राण-प्रतिष्ठा करने की। यदि कांग्रेस इस त्यौहारको हिन्दू धर्मकी दलदलसे निकाल कर विशुद्ध राष्ट्रीयताका रूप दे सके, एक राष्ट्रीय सप्ताह आदिके रूपमें इसके मनानेका विशाल आयोजन कर सके और मनानेके लिये ऐसी मर्यादाएँ स्थिर करके दृढताके साथ उनका पालन करानेमें समर्थ हो सके जिनसे अभ्यासादिके वश कोई भी किसीका अनिष्ट न कर सके और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनोंके उत्थानमें सहायक हों, तो वह इस बहाने समता और स्वतन्त्रताका अच्छा वातावरण पैदा करके देशका बहुत ही हितसाधन कर सकेगी और स्वराज्यको बहुत निकट ला सकेगी। यदि कांग्रेस ऐसा करनेके लिये तैयार न हो तो फिर हिन्दू समाजको ही इस त्यौहारके सुधारका भारी यत्न करना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो, यदि देशसेवक जन इस त्यौहारके सुधार-विषयमें अपने अपने विचार प्रकट करने की कृपा करें और सुधार-विषयक अपनी अपनी योजनाएँ राष्ट्रके सामने रखकर उसे सुधारके लिये प्रेरित करें। यदि कुछ राष्ट्र-हितैषियोंने इसमें दिलचस्पीसे भाग लिया तो मैं भी अपनी योजना प्रस्तुत करूँगा और उसमें उन मर्यादाओंका भी थोड़ा बहुत उल्लेख करूँगा जिनकी सुधारके लिये नितान्त आवश्यकता है। मर्यादाएँ पहले भी ज़रूर थीं, जिनके भंग होनेसे लक्ष्य-भ्रष्ट होकर ही यह त्यौहार विकृत हुआ है। और इसी लिये बहुत अर्सेसे मैंने भी होलीका मनाना—उसमें शरीक होना—छोड़ रक्खा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

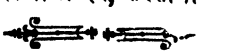

होली होली है !

(१)

ज्ञान-गुलाल पास नहिं, श्रद्धा—
समता रंग न रोली है।
नहीं प्रेम-पिचकारी करमें,
केशर-शान्ति न घोली है॥
स्याद्वादी सुमृदङ्ग बजे नहिं,
नहीं मधुर-रस बोली है।
कैसे पागल बने हो चेतन!
कहते 'होली होली है' !!

(२)

ध्यान-अग्नि प्रज्वलित हुई नहिं,
कर्मेन्धन न जलाया है।
असद्भावका धुआँ उड़ा नहिं,
सिद्ध-स्वरूप न पाया है॥
भीगी नहीं ज़रा भी देखो,
स्वानुभूतिकी चोली है।
पाप-धूलि नहिं उड़ी, कहो फिर—
कैसे 'होली होली है' !!

—'युगवीर'

दर्शनोंकी आस्तिकता और नास्तिकताका आधार

[ले० पं० ताराचन्द जैन न्यायतीर्थ, दर्शन शास्त्री]

एक समय था जब लोग आत्मिक-उन्नतिकी ओर बड़े ज़ोरोंसे बढ़ रहे थे। आत्मिक-उन्नतिके विषयमें दार्शनिकोंका परस्परमें मतैक्य न था, प्रत्येक दार्शनिक अपने मन्तव्य व दर्शन (Philosophy) को सर्वोत्तम बतलाकर उसको ही आत्मोन्नतिका प्रमुख साधन घोषित करता था। ये दार्शनिक कभी कभी आपसमें वादविवाद भी किया करते थे, वादविवादका परिणाम कभी सुखद और कभी कलहवर्द्धक हुआ करता था। आत्मिक-उन्नतिके लिये अनेक नये दर्शन, मत और मज़हब पैदा हुए। आध्यात्मिक उन्नति व सुखके नामपर जहाँ इन दर्शनोंने जितनी अधिक सुख और पावन-कृत्योंकी सृष्टिकी है; उन्हींने उसी उन्नतिके बहाने दुःखों और अत्याचारोंका कम सर्जन नहीं किया। मायावियों, स्वार्थियों और अपनेको ईश्वरका प्रतिनिधि घोषित करनेवाले लोगोंने देवी-देवता तथा यज्ञादिकी कल्पना कर धर्मकी ओटमें मनुष्य-समाज और मूक-पशुओंके ऊपर जो जुल्म ढाये हैं, उनकी दास्तांके पढ़ने, सुनने और स्मरण करने मात्रसे मस्तक घूमने लगता है। यही कारण है कि बहुत लोग धर्मसे घृणा करने लगे हैं; परन्तु धर्म जीवनमें उतना ही आवश्यक है, जितनी हवा। धर्म व दर्शनोंके नाम पर जो जुल्म हुए हैं, उनमें उन धर्मों और दर्शनों का कोई दोष नहीं है। इसका सारा दोष तो धर्म-का स्वांग रचनेवालों पर है। धर्म व दर्शन तो अपने उद्देशसे कभी विचलित नहीं होते। हाँ, अपूर्ण पुरुषों द्वारा जो दर्शन चलाये जाते हैं वे पूर्ण आत्मिक-उन्नति करनेमें प्रायः असफल रहते हैं। खैर, यहाँ पर दर्शनोंकी वास्तविकता-अवास्तविकता वा पूर्णता-अपूर्णतासे कोई सरोकार नहीं, यहाँ तो सिर्फ़ इतना ही बतलाना है कि दर्शनों की आस्तिकता वा नास्तिकताका अमुक आधार है।

मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि दार्शनिक अपने अपने मन्तव्यको लेकर आपसमें वाद-विवाद किया करते थे और उसका नतीजा कभी कभी कलह-वर्धन भी हुआ करता था। अति प्राचीन-कालमें ईश्वरादि विषय पर अनेक शास्त्रार्थ हुए, इन शास्त्रार्थोंमें प्रमुख दो विरुद्ध-मनोवृत्तिवाले दार्शनिकोंने भाग लिया। इन शास्त्रार्थों अथवा वादोंसे मत-भेद मिटने वा तत्त्वनिर्णयके बजाय, और अधिक द्वेषाग्नि भड़की। जिन बातों (ईश्वरादि) के निर्णयके लिये दर्शनोंका जन्म हुआ, वे विषय आज भी जहाँके तहाँ अन्धकाराच्छन्न हो रहे हैं और दर्शनोंके वाद-विवादोंके विषयमें कविका यह कथन अक्षरशः सत्य मालूम होता है—

सदियोंसे फ़िलासफ़ी की चुनाचुनी रही।
पर खुदाकी बात जहाँ थी वह वहाँ ही रही॥

इन दोनों विरुद्ध मनोवृत्तियोंने आपसमें अत्यन्त उग्ररूप धारण कर दार्शनिक-जगत्, और साथ ही साधारण जनताको भी दो भागोंमें विभक्त कर दिया। एक भागको आस्तिक और दूसरे भागको नास्तिक कहते हैं, दोनों एक दूसरे के दुश्मन हैं। हमें उस बुनियाद—आधारको ढूंढ़ निकालना है, जिसके बल पर इन विरोधि-मनोवृत्तियोंका बीज बोया गया, और जिसका परिणाम हमेशा दुखद तथा कटु ही रहा। अपने अगुओंके फुसलावमें आकर साधारण जनता भी इन मनोवृत्तिओंके प्रवाहमें बहनेसे अपने आपको न रोक सकी। इस विरोधने इतना जोर पकड़ा कि आये दिन धर्मके नामपर मानवताका खुले आम गला घोंटा गया, इस भावनाने मानव-समाजको टुकड़े टुकड़ेमें विभक्त कर दिया, जिससे उनकी वा उनके देशकी अपार क्षति हुई। इस युगमें भी कभी कभी ये हत्यारी भावनाएं जाग उठती हैं, जिससे राजनैतिक आन्दोलनको भी इसका कटु परिणाम भुगतना ही पड़ता है। इस समय तो हमें ऐसी दशा उत्पन्न कर देना चाहिये, जिससे सभी दार्शनिक वा जनसाधारण एक दूसरेको अपना भाई समझकर देशोद्धार आदि कार्योंमें कन्धासे कन्धा जुटाकर आगे बढ़ते जावें। इसके लिये पक्षपात वा अपने कुलधर्मका मोह छोड़कर युक्ति-अविरुद्ध दर्शनकी आस्तिकता और नास्तिकता पर हमें विचार कर लेना चाहिये, व्यर्थ दूसरोंको नास्तिक कह कर, उन्हें दुःखित करने और भड़कानेसे क्या लाभ? इन्हीं दुर्भाव-नाओंने तो भारतको गारत कर दिया; अब तो सम्हलें।

बहुत कुछ विचार करने वा आस्तिक-नास्तिक कहे जानेवाले दर्शनोंकी विवेचनाओंकी जानकारी करनेके बाद, मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ, कि किसी पदार्थके अस्तित्वके स्वीकार करनेसे आ-स्तिक, तथा उसी पदार्थके न माननेसे दर्शन ना-स्तिक कहलाये। किसीने ईश्वर, ब्रह्मा, खुदाको जगतका बनानेवाला स्वीकार करने, किसीने वेद-प्रमाण, किसीने अदृष्ट—पुण्य-पाप, और किसीने परलोकका अस्तित्व माननेवाले दर्शनको आस्तिक घोषित किया। और जिनने इनके माननेसे इंकार किया उन्हें नास्तिक घोषित किया गया। ऊपर लिखी आस्तिक नास्तिक मान्यताओंके विषयमें यहाँ पर कुछ विवेचन करना आवश्यक है; जिस-से विषयका स्पष्टीकरण हो जावे और आस्तिकता तथा नास्तिकताकी भी जानकारी सरलतासे हो जाय।

ईश्वरवादी दार्शनिक—जिन दर्शनोंमें ईश्वरको जगत्का कर्ता-हर्ता माना गया है—जैन-दर्शन, बौद्धदर्शन और चार्वाक-दर्शनको ईश्वर न माननेके कारण नास्तिक घोषित करते आये हैं। यह ठीक है, कि जैनदर्शन ईश्वर नहीं मानता, पर ईश्वरा-स्तित्व सिद्ध होनेसे पहले उसे नास्तिक कहना उचित न होगा, युक्तिके बलपर यदि ईश्वर सिद्ध होजाय तो जैनदर्शनको नास्तिक ही नहीं, और जो कुछ चाहें कहें। हाँ, तो यहाँ पर ईश्वरके विषयमें विवेचना की जाती है। कतिपय ईश्वरवादी दार्शनिकोंका अभिमतहै कि इस युगसे बहुत पहले इस दुनियाँका कोई पता न था, केवल ईश्वर ही मौजूद था। एक समय ईश्वरको—यद्यपि वह परि-पूर्ण था—एकसे अनेक होने वा सृष्टि-रचना करने

की लालसा हुई। चूंकि वह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ, और व्यापक था; इसलिये उसने स्वेच्छानुसार तमाम जड़ी और चेतन-जगत्—पर्वत, समुद्र, नद-नदी, भूखण्ड, बनखण्ड, देश, द्वीप और पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा, देव, मनुष्य आदिका निर्माण किया। इस कार्यके निर्माणमें उसे किसी भी अन्य साधन—उपादानादि कारणोंकी—जरूरत नहीं हुई; अर्थात् स्वयं ईश्वर ही उपादान और निमित्त कारण था।

पाठको! आप लोग जानते ही होंगे कि प्रत्येक कार्यके करनेमें उपादान-कारण और निमित्त कारणकी आवश्यकता हुआ करती है। जो अपनी हस्ती वर्तमान पर्याय-मिटाकर खुद कार्य रूपमें तब्दील हो जाय उसे उपादान कारण कहते हैं; और जो कार्य करने में सहायक हो उसे निमित्त या सहायक कारण कहते हैं। जैसे, रोटी बनानेके लिये आटा, रसोइया, पानी आग आदिकी आवश्यकता हुआ करती है; रोटी कार्यमें आटा उपादान कारण है; आटा अपनी वर्तमान चूर्ण पर्याय-को छोड़कर पानी आदिके सहयोग-सम्मिश्रणसे पिंडादि आकृतियोंको धारण करता हुआ, रसोइया के हाथोंकी चपेट वा चकला-बेलनकी सहायतासे चपटा तथा गोलाकारमें परिवर्तित होकर अग्निपर सेकनेसे रोटी-कार्यमें बदल जाता है, पर वह अपने रूप-रसादि गुणोंको नहीं छोड़ता। स्वर्णसे कड़ा, बाली, कुण्डल आदि अनेक भूषण बनाये जाते हैं; परन्तु सोना अपने स्वर्णत्व, पीतत्वादि स्वरूपको कभी नहीं छोड़ता, केवल अपनी पिंड, कुण्डल आदि पर्यायों और आकृतियोंका ही परित्याग करता है। तांबा, पीतल, लोहा, मट्टी, काष्ठ आदि से भी जिन कार्योंका निर्माण किया जाता है, उनमें तांबा आदि—जिस मूल वस्तुसे कार्य पैदा हुआ है—बराबर अन्वयरूपसे पाया जाता है। उपादान कारण अपनी पर्यायों-हालतोंको तो छोड़ देता है, पर वह खुद कभी विनष्ट नहीं होता, उससे जिन कार्योंकी सृष्टि की जाती है, उन कार्योंमें उपादानके समस्त गुण अविवाद रूपसे पाये जाते हैं।

ईश्वरवादी लोग जगत-कार्यकी रचनामें ईश्वर-को ही उपादान वा निमित्त कारण बतलाते हैं, पर युक्ति और बुद्धिकी कसौटी पर कसनेसे यह बात बिल्कुल झूठ साबित होती है; क्योंकि मैं पहले ही लिख चका हूँ कि कार्यमें उसके उपादानके समस्त गुण पाये जाते हैं। अब सोचिये, यदि जगत-कार्य का उपादान कारण ईश्वर है, तो लाजमी तौरपर ईश्वरके सर्वज्ञत्व, व्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि गुण जगत्में पाये जाना चाहिये। परन्तु संसारमें जितने कार्य नज़र आते हैं, उनमें ईश्वरके गुणों-का खोजने पर भी सद्भाव नहीं मिलता, फिर न जाने किस आधारके बल पर ईश्वरवादी ईश्वरको जगतका उपादान कारण बतलाकर उसे कलंकित करते हैं। भले ही अन्धश्रद्धालु ईश्वरको वैसा मा-नते रहें, परन्तु जिनके पास समझने-तर्क करनेकी बुद्धि है, वे तो इसे निरी युक्तिशून्य कपोल-कल्पना कहेंगे।

अन्य ईश्वरवादी लोग ईश्वरको जगतका उपादान कारण न मान, निमित्त कारण बतलाते हैं; उनका कहना है कि—सृष्टि-रचनाके पहले ब्रह्मांडमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन ही पदार्थ थे। ईश्वरने स्वेच्छानुसार जीव और प्रकृतिसे चेतन तथा अचेतन जगत्की उत्पति की। जिस

तरह कुम्हार मिट्टीसे घट, दीपक, सकोरा आदि मिट्टीके बर्तन, बढ़ई लकड़ीसे कुरसी, मेज, पलंग किवाड़ आदि और जुलाहा (बुनकर) सूतसे धोती, दुपट्टा, चादर, तौलिया, रूमाल आदि कपड़ा तैयार करता है; यदि मिट्टी उपादान कारण तथा अन्य चक्रादि (घड़े बनानेका चाक) निमित्त कारण मौजूद भी रहें और कुम्हार न हो तो घड़े आदिका बनना सर्वथा असम्भव रहता है । उसी प्रकार यद्यपि जीव और प्रकृति—उपादान-कारणों-के द्वारा ही चेतन अचेतन विश्वकी रचना हुई है; तो भी इस तमाम अत्यन्त कठिन दुरूह और व्यवस्थित जगत्-रचनाका करनेवाला कोई बहुत बुद्धिमान् व्यक्ति जरूर है । जो इस रचनाका कर्त्ता है, वह ईश्वर है, ईश्वरसे भिन्न कोई अन्य साधारण व्यक्ति इतने महान् कार्यको नहीं कर सकता। चूंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वत्र व्यापक है, इसलिये वह एक ही समयमें अनेक देशवर्ती, एक देशवर्ती अनेक कार्य और भिन्न समयमें भिन्न भिन्न देशमें होनेवाले अनेक कार्योंको सरलतासे करता रहता है ।

ईश्वरवादी दार्शनिकोंकी तरह निरीश्वरवादी दार्शनिक भी कार्यकी उत्पत्ति उभय कारणोंसे (उपादान और निमित्तसे) मानते हैं । जैन-दर्शनने ईश्वरकी जगत्-कर्तृताका युक्तिपूर्वक खंडन किया है, वह सब यहाँ नहीं लिखा जा सकता यहाँ मोटी दलीलें पेश करूँगा, जिससे जगत्की प्राकृतिकताका भान हो सके ।

हमारे ईश्वरवादी भाई कहा करते हैं, कि हर-एक कार्यकी उत्पत्ति बुद्धिमान् सहायकके बिना नहीं होती; परन्तु संसारमें ऐसे बहुतसे कार्य नजर आते हैं जिनका कर्ता बुद्धिमान नहीं होता, अपने आप बनते बिगड़ते रहते हैं । घास, कीड़ा-मकौड़ा, जड़ निमित्तके मिल जानेसे उत्पन्न होते हैं और विनाश हेतुओंके साहचर्यसे विनिष्ट होते रहते हैं। हीरा, मणि, पन्ना, पुखराज आदि नियत स्थानमें ही पैदा होते हैं । स्वाति की बूंद यदि सीपमें पड़ जाय तो मोती बन जाता है, किसी हाथीके गण्ड-स्थलमें भी गजमुक्ता (एक किस्मका मोती) का सद्भाव माना गया है, सर्पराज—मणियार सर्पके मस्तक पर मणिकी उत्पत्ति होती है; इसी तरह और भी असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनके बनानेमें प्रकृतिके सिवाय अन्य किसी भी ईश्वरादि व्यक्तिका जरा भी दखल नहीं है । शा-यद ईश्वरवादी दार्शनिक उपर्युक्त उदाहरणोंमें भी ईश्वरका दखल बतलाते हुए कहें, कि ये कार्य भी सातिशय परमात्मा द्वारा ही निर्मित होते हैं; परन्तु घासादिकी उत्पत्तिको देखते हुए, उसकी बुद्धिमत्ताकी कलई खुल जाती है । आबाद मकानों की छत, अंगन भित्ति आदि उपयोगी स्थानों पर भी बारिशके दिनोंमें व्यर्थ ही घास पैदा होजाया करता है, यह कार्य भी क्या बुद्धिमत्ताका सूचक है ?

ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वरको जगत्-निर्माता माननेमें यह दलील भी देते हैं कि, अगर जगत्का बनाने वा व्यवस्था करनेवाला महान् बुद्धिमान न होता, तो यह विश्व-रचना इतनी व्यवस्थित और सुन्दर न होती । यह उसी सर्वशक्तिमान परमात्मा की लीला है जिसने जगत्को एक सुन्दर ढाँचेमें ढाला है । भाइयो, जरा विश्व-रचनाकी ओर भी ग़ौर कीजिये, आया यह व्यवस्थित है या अव्यव-

स्थित ? कहीं भयंकर दुर्गम पर्वत ही पर्वत, कहीं वन ही वन, कहीं पानी ही पानी, कहीं पानीका बिलकुल अभाव—मरुस्थ जैसे स्थानोंमें, निर्जन स्थानोंमें जलप्रपात और सुन्दर झरनोंका बहना, जहाँ ऊँची जमीन चाहिये वहाँ जमीनका नीचा होना, जहाँ भूभागका नीचा शोभास्पद होता वहाँ उसका ऊँचा होना, अकाल, महामारी, अनावृष्टि अतिवृष्टि उल्कापात आदिका होना, डांस, मच्छर, कीड़ा-मकोड़ा सांप बिच्छू सिंह व्याघ्रकी सृष्टि होना, मनुष्यमें एक धनवान् दूसरा निर्धन एक मालिक दूसरा नौकर, एक पुत्र-स्त्री-बाल बच्चे आदि के अभावसे दुखी, दूसरा इस सबके होते हुए भी दरिद्रताके कारण महान दुखी, एक पंडित दूसरा अक़लका दुश्मन-मूर्ख, चन्दनका पुष्प विहीन होना, स्वर्णमें सुगन्धका न होना और गन्नामें फलका न लगना इत्यादि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनके कारण विश्वरचनाको कोई भी बुद्धिमान व्यस्थित और सुन्दर नहीं कह सकता। इस लिये बुद्धिमान ईश्वरको जगतका निर्माता वा व्यवस्थापक कहना बिलकुल ही सारहीन मालूम होता है। इसीसे किसी कविने ऐसे ईश्वरकी बुद्धिका उपहास करते हुए स्पष्ट ही लिखा है—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदंडे नाकारि पुष्पं किलचन्दनेषु
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपिन-
बुद्धिदोऽभूत् ॥

पाठक महानुभाव उपर्युक्त कथनसे संक्षेपमें यह तो समझ ही गये होंगे, कि ईश्वरको जगत कर्ता मानना युक्तिकी कसौटी पर किसी प्रकार भी कसकर सिद्ध नहीं किया जा सकता और वास्तवमें वह न जगतका बनानेवाला, वा पालन करनेवाला और न नाश करनेवाला ही है। भले ही अन्धविश्वासी उसको वैसा मानते रहें। जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंके बन्धनसे हमेशाके लिये छूट गया है अर्थात कर्मोंकी गुलामीकी जंजीरोंको जिसने काट फेंका है, जिसने समस्त कार्य कर लिये हैं—कृतकृत्य होगया है—और जिसने पूर्णता प्राप्त करली है, ज्ञान, सुख, वीर्य-आदिका धनी है जो मोक्ष पानेके बाद संसारमें कभी न लौटता है और न संसारकी झंझटोंमें फँसता है वही ईश्वर है। उसको महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु परमात्मा, खुदा गौड (God) आदि भी कहते हैं। जैन दर्शनमें इसी प्रकारका ईश्वर-परमात्मा माना गया है और ऐसा ईश्वर कोई एक विशेष व्यक्ति ही नहीं है। अब तक अनंत जीव परमात्मपद पा चुके हैं और भविष्यमें भी अगणित जीव तरक्की करते करते इस पदको प्राप्त करेंगे। अब तक जितने जीवोंने परमात्मपद प्राप्त किया है और भविष्यमें आत्मिक उन्नति करते करते जितने जीव इस पदकी प्राप्ति करेंगे, वे सब परस्पर एक समान ज्ञान-सुख वीर्य आदि गुणोंके धारक होंगे। उनके गुणोंमें रंचमात्र भी तारतम्य न तो पाया जाता और न कभी पाया जायगा। जिनसे पूज्य-पूजक भाव सदाके लिये दूर होगया है और वे सभी मुमुक्षु जीवों द्वारा समानरूपसे उपास्य हैं। इन मुक्त जीवोंसे भिन्न जगत् सृष्टा, जगत्पालक और जगत्-विध्वंसक त्रि-शक्ति सम्पन सदेश्वर नामका कोई भी व्यक्ति नहीं है। अतः ईश्वर (जगत् कर्ता आदि रूपसे) न माननेवाले दर्शनोंको नास्तिक दर्शन नहीं कहा जा सकता; इसलिये उपर्युक्त दलीलसे जैनदर्शन आदिको नास्तिकदर्शन कहना महान

अपराध होगा।

भ० महावीर और महात्मा गौतमबुद्धसे क़रीब सौ वर्ष पहले जन्म लेनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक महर्षि कपिलने (कहते हैं सबसे प्रथम कपिलने ही दर्शन पद्धतिको जन्म दिया था, उनसे पहले आत्मा आदिके विषयमें न तर्कणा की जाती थी और न इन गूढ प्रश्नोंके सुलझानेका प्रयत्न ही किया जाता था।) जगतकी उत्पत्तिको स्वाभाविक बतलाया है और ईश्वर नामके पदार्थका खंडन किया है; परन्तु किसी दार्शनिकने कपिल द्वारा चलाये सांख्यदर्शनको नास्तिकदर्श नहीं लिखा। इससे समझ लेना चाहिये कि नास्तिकताकी कोई अन्य ही बुनियाद है। कुछ लोग—जो वेदको ही हरएक बातमें प्रमाण मानते हैं—ऋग्वेद आदि वेदोंको प्रमाण न माननेवाले और वेदोंके अप्राकृतिक, असंगत तथा युक्ति-विरुद्ध अंशोंका खंडन करनेवाले दार्शनिकोंको *'नास्तिकोवेद निन्दकः'*—वेद निन्दक नास्तिक है—कहकर व्यर्थ बदनाम करते हैं। वेदोंमें ऐसी ऐसी बीभत्स और घृणाके योग्य बातें लिखी हैं, जिनको कोई भी निष्पक्ष बुद्धिमान माननेको तैयार न होगा। गोमेध, नरमेध आदि यज्ञोंका वैदिक कालमें और उसके पश्चात् कई शताब्दी तक खुले आम धर्मके नाम पर प्रचार किया गया और जो जुल्म ढाये गये वे कम निन्दाके योग्य नहीं हैं। उनकी निन्दा तो की ही जावेगी। महर्षि कपिलने भी वेदोंके ऐसे निन्दार्ह अंशों पर आपत्ति की थी, खंडन भी किया था। भगवान् महावीर व म० गौतम बुद्धने तो धर्मके नामपर किये जानेवाले अत्याचारोंको जड़से उखाड़ फेंका। तबसे फिर आज तक वैसे कठोर जुल्म नहीं हुए। जैनदर्शन वेदोंके हिंसात्मक विधानोंका खंडन करता है, परन्तु इससे उसे नास्तिकदर्शन नहीं कहा जा सकता। यदि वेद निन्दक नास्तिक माने गये होते तो कपिल व उनका सांख्यदर्शन भी नास्तिकके नामसे मशहूर होना चाहिये था। परन्तु उन्हें किसीने नास्तिक नहीं लिखा। जैन धर्मने वैदिक विधानोंका खुले आम विरोध किया, इसलिये कुछ मनचलों (वैदकों) ने जैनदर्शनको भी नास्तिक दर्शन कहकर बदनाम करना शुरू कर दिया। चूंकि वैदिक विधान पूर्ण तौरसे जगत्-हित करनेमें असमर्थ साबित हुए और इनसे संसारमें सुख और समृद्धिकी सृष्टिकी जगह दुःख और अशान्त तथा क्षुब्ध वातावरण पैदा होगया। एक उच्च मानी जानेवाली क़ौमके सिवाय समस्त मनुष्योंको अनेक तरहसे पतित और अधम घोषित किया गया उनके अधिकार हड़पे जाने लगे, पशुओंके बड़े बड़े गिरोह अग्नि कुण्डोंमें धर्मके नाम पर बेरहमीके साथ झोंके गये। सभीका जीवन दूभर होगया। इन्हीं वैदिक विधानोंका जैन, बौद्ध आदि सुधारक लोगोंने खण्डन किया, जिससे इन कृत्योंकी कमी दिनों दिन होती चली गई। और इन्हींके बलपर जिनकी आजीविका और शान-शौक़त अवलम्बित थी वे लोग घबराये और वे ऐसे सभी सुधारकों और उनके मत या दर्शनको बदनाम करनेके लिये कोई अन्य उपाय न सूझनेके कारण *'नास्तिकोवेदनिन्दकः'* इस तरह घोषित करने लगे। इस तरहसे तो प्रत्येक मज़हब और दर्शन नास्तिकताके शिकार होनेसे न बचेंगे। जिस तरह वैदिक लोग वेद

प्रमाण न माननेवालोंको नास्तिक कहते हैं, वैसे ही दूसरे लोग भी वैदिक लोगोंको उनके ग्रन्थ व शास्त्र प्रमाण न माननेके कारण नास्तिक कह सकते हैं, और प्रायः ऐसा देखा भी जाता है। मुसलमान लोग कुरानकी बातों और मुस्लिम-संस्कृतिसे वहिष्कृत सभी लोगोंको काफ़िर—नास्तिक कहते हैं। दूसरे लोग भी कोई मिथ्यात्वी और कोई अन्य हीन शब्दके द्वारा अपने मतके न माननेवाले लोगोंको कुत्सित बचनोंके द्वारा सम्बोधित करते हैं। इससे वेद-निन्दक अथवा वेद वचनोंको प्रमाण न स्वीकार करनेवाले दार्शनिकोंको 'नास्तिक' कहना बिलकुल युक्तिशून्य और स्वार्थसे ओतप्रोत जँचता है। अतः वेद-वाक्य-प्रमाण न माननेसे भिन्न ही नास्तिकताका कोई आधार होना चाहिये।

इस तरह ईश्वर-विश्वास और वेदवचन-प्रमाण आस्तिकता की सच्ची कसौटी नहीं है, इन दोनोसे भिन्न ही आस्तिकता की युक्तिसंगत मनको लगनेवाली कोई कसौटी होना चाहिये। मेरे विचारसे तो भौतिक-जगतसे भिन्न चैतन्ययुक्त आत्मा या जीवका मानना ही आस्तिकताकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी, आधार या बुनियाद है। इससे भिन्न आस्तिकताकी जितनी परिभाषायें देखनेमें आती हैं वे सभी अधूरी, असंगत और सदोष मालूम होती हैं। जीवका अस्तित्व स्वीकार करने पर ही ईश्वर-विश्वास, वेद-वाक्य प्रमाण आदिकी चर्चा बन सकती है। बिना जीवके उक्त समस्त कथन निराधर और निष्फल प्रतीत होता है। अदृष्ट-पुण्य-पाप और परलोककी कथनी भी जीव हेतुक होनेसे जीवास्तित्व पर ही निर्भर है। जीव अपने अदृष्ट-स्वोपर्जित पुण्य-पाप कर्मसे मरण कर किसी एक मनुष्यादि गतिसे दूसरी देवादि गतिमें जन्म लेता है, उसीको परलोक कहते हैं। यदि जीवास्तित्व भौतिक-जगतसे भिन्न और शाश्वतिक न माना जायगा तो परलोक आदि भी न बन सकेंगे; क्योंकि परलोक-गामीके अस्तित्व होनेपर ही परलोक अस्तित्व बनता है।

हम देखते हैं कि जीवास्तित्वको आस्तिकताकी कसौटी मानने पर संसारकी जन-संख्याका बहुभाग आस्तिक कोटिमें सम्मिलित हो जाता है। बौद्ध दार्शनिकोंको नैरात्म्यवादी होनेपर भी एकान्ततः नास्तिक कहना उपयुक्त न होगा; क्योंकि बौद्धदर्शनमें भी सन्तानादि रूपसे जीवका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, भले ही उनका वैसा मानना युक्तिसंगत न हो, पर जीव या आत्माका तो अस्तित्व किसी न किसी रूपमें माना ही गया है। चार्वाक दर्शन और इसीकी शाखा प्रशाखारूप अन्य दर्शन जो जीव-आत्मको पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे भिन्न पदार्थ नहीं स्वीकार करते, किन्तु इन्हींके विशिष्ट संयोगसे जीवकी उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें जरूर नास्तिक कोटिमें सम्मिलित किया जा सकता है। प्रत्यक्षसे ही हमें देहादिसे भिन्न सुख-दुःखका अनुभव कर्ता मालूम होता है। जो अनुभव करता है उसीको जीव कहते हैं। मरनेके बाद पंचभूतमय शरीर मौजूद रहनेपर भी उसमें चेतनशक्तिका अभाव देखा जाता है। जब तक देहमें आत्मा विद्यमान रहता है तभी तक उसकी क्रियायें देखनेमें आती हैं। चेतन शक्तिके बाहिर निकल जानेपर मिट्टीकी तरह केवल पुद्गलका पिण्ड ही पड़ा रहता है।

उस समय चेतन आत्माके स्वरूपका उसमें एक दम अभाव नज़र आता है। इसलिये जीवको भूतजन्य या भूतमय कहना भ्रमसे खाली नहीं है।

जीवास्तित्वको आस्तिकताकी कसौटी मान लेनेपर आस्तिकता और नास्तिकताके नाम पर होनेवाले संसारके अनेक संघर्ष सरलतासे दूर किये जा सकते हैं। आपसके वैमनस्य तथा घृणा आदि दोषोंका शमन इससे बहुत जल्द हो सकता है। और भारतवर्ष पारस्परिक प्रेम-सूत्रमें सुसंबद्ध हो उन्नतिकी चरम सीमा तक पहुँच सकता है, तथा गुलामी जैसे असह्य अभिशापको हम सुसंगठित हो क्षण भरमें नेस्त व नाबूद कर सकते हैं। जीव या आत्मा शाश्वतिक और अमर है इसमें किसी भी आस्तिक दार्शनिकको लेशमात्र संशय नहीं है और होना भी न चाहिये। सभी दार्शनिकोंने जीव सिद्धि प्रबल प्रमाणोंसे की है। अतः इस संसारको सुखमय स्वर्गीय बनानेके लिये हमें इसी श्रेयस्करी मान्यताको आस्तिकता की सच्ची कसौटी सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा,

होली है !

(१)

बच्चे ब्याहें, बूढ़े ब्याहें कन्याओंकी होली है !
संख्या बढ़ती विधवाओंकी, जिनका राम रखोली है !!
नीति उठी, सत्कर्म उठे, औ' चलती बचन-बसोली है !
दुख-दावानल फैल रहा है, तुमको हँसी-ठठोली है !!

(२)

नहीं वीरता, नहीं धीरता, नहीं प्रेमकी बोली है !
नहीं संगठन, नहीं एकता, नहीं गुणीजन-टोली है !!
हृदयोंमें अज्ञान-द्वेषकी बेल विषैली बो ली है !
भाई-भाई लड़ें परस्पर, पत अपनी सब खो ली है !!

(३)

बेचें सुता, धर्म-धन खावें, ऐसी नीयत डोली है !
भाव-शून्य किरिया कर समझें, पाप कालिमा धो ली है !
ऊँच-नीचके भेद-भावसे लुटिया साम्य डुबो ली है !!
रूढ़ि-भक्ति औ' हठधर्मीसे हुआ धर्म बस डोली है !!

(४)

सत्य नहीं, समुदार हृदय नहिं, पौरुष-परिणति खो ली है !
प्रण-दृढ़ताकी बात नहीं, समताकी गति नट टोली है !!
आर्तनाद कुछ सुन नहिं पड़ता, स्वारथ चक्की झोली है !
बल-विक्रम सब भगे, बनी हा ! देह सबोंकी पोली है !!

(५)

उठती नहीं उठाए जाती, यद्यपि बहुती सो ली है !
ख़बर नहीं कुछ देश-दुनीकी, सचमुच ऐसी भोली है !!
बाइस जैनी प्रतिदिन घटते, तो भी आँख न खोली है !
इन हालों तो उन्नति अपनी ऐ जैनो ! बस हो ली है !!

'युगवीर'

जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती हैं ?

[ले०—श्री० ला० हरदयाल, एम० ए०]

जातिका जीवन किस वस्तुमें है ? किस चीज़ में जातिकी आत्मा छिपी हुई है ? क्या तावीज़ है, जिसे जाति अपनी रक्षाके लिये पहने रहती है। क्या कस्तूरी है, जिसे एक अधमरी जातिको सुँघाना चाहिए कि वह कुछ तो होशमें आवे? वह क्या रहस्य है जिसमें शेष सब भेद छिपे हुए हैं ? वह क्या कुंजी है, जिससे जातीय प्रश्नोंके सब ताले खुलते हैं ? अली-बाबाको एक मंत्र याद था, जिससे तरह-तरहके बहु-मूल्य मोती-जवाहर उसके हाथ आये थे। उसका भाई यह शब्द भूल गया; और वह अपने भाग्यको पीटता रहा; दौलतका द्वार न खुला, पर न खुला। इसी तरह हम पूछते हैं कि जातिके लिए वह क्या मंत्र है, जिससे मनमानी मनोकामना मिलती है—धन, मान, बल स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य सब प्राप्त होते हैं ?

यह स्पष्ट प्रकट है कि जातिके जीवनका संसार व्यापी सिद्धान्त अवश्य है, अन्यथा जातिके कर्णधार किस प्रकार अपने देश-वासियोंकी भलाईका प्रयत्न कर सकते हैं। किस नियमसे वह काम करनेमें सहायता लें, किस नेताके अनुयायी बने, किस गुरुसे शिक्षा ग्रहण करें ? यदि कोई सिद्धान्त नहीं है तो बड़ी निराशाकी बात है। सब मामला अटकल-पच्चू और अनिश्चित् रहा। किसी आन्दोलनकी बुराई-भलाईको पहचानना असम्भव हो गया। प्रकृतिकी अँधेरी रात्रिमें मनुष्य जैसे कमज़ोर यात्रीके लिये कोई कुतुब (ध्रुव) मार्ग दिखानेवाला नहीं रहा। सिद्धान्त अवश्य होगा। प्रकृति नियमकी प्रेमिणी है; नियमबद्ध आन्दोलनकी मतवाली है। प्रकृतिको पूर्वी रजवाड़ोंकी सी बदइन्तज़ामी पसन्द नहीं। प्रकृति फूहड़ नहीं है। पार्थिव संसारमें हर वस्तु अटल नियमके अनुसार अपना असर दिखाती है। फिर नैतिक और देशोंकी दुनियामें भी अवश्य किसी न किसी तरकीबके अनुसार काम होता होगा। या कार्यवाही न होती होगी। यदि तमाम जातियोंकी उन्नति और उनकी अवनतिसे हम कोई सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, जिससे हम अपने मार्गसे काँटे हटा सकें, तो इतिहासको धिक्कार है। उसके लड़ाईके मैदान केवल क़साईख़ाने और उसकी क्रान्तियां केवल होलीका स्वांग रही हैं। अफ़सोस है कि लाखों निरपराध जानें गईं, ज़मानेमें उथल-पथल हुई एक क्षण भी मनुष्यको चैन न मिला। अगर इस पर भी इतिहाससे कोई सिद्धान्त जातीय जीवनको बनाए रखनेके लिए नहीं मिल सकता, तो उसे व्यर्थ समझना उचित है। क्या यह संसारकी जातियोंको यों ही यह नाच नचा रहा है ? अवश्य ही जातीय जीवनका कोई विश्वव्यापी सिद्धान्त है जो हमको मालूम हो सकता है। जिस प्रकार कठोपनिषद्में लिखा है कि नेचिकेताने भयसे पूछा—मुझे मनुष्यकी मृत्युका रहस्य बताओ ? मुझे हाथी घोड़े सोना-चाँदीकी आवश्यकता नहीं। उसी तरह हमारे मनमें निरन्तर प्रश्न उठता रहता है कि क्या जातीय जीवनका कोई सिद्धान्त है ? यदि है, तो हम जाननेके लिये उद्यत हैं। जंगलोंमें घूमनेसे हम

नहीं डरते, पहाड़ोंकी गुफाओंसे परहेज़ नहीं करते। जो तप आवश्यक होगा करेंगे। अगर पेरिस पहुँचना हो, तो एक पल भरमें जा धमकेंगे। अगर समुद्रकी तहमें प्रयोग करना हो, तो पानीके कीड़े बनकर रहेंगे, क्योंकि हम उस अमृतकी तलाशमें हैं। आज भारतवर्ष जातीय जीवनका गुर ढूँढता है। जान निकल रही है। धर्म और जाति पर प्रत्येक ओरसे आक्रमण हो रहे हैं। आस-पासकी जातियाँ कहती हैं कि इसमें अब क्या रहा है। राम-नाम लो और तैयारी करो। इतिहासकारोंकी सम्मति है कि अब आगे इससे कुछ नहीं बनेगा—ऐसी दशामें हम उस आत्म-जीवन बूटीके लेनेको हिम्मतकी कमर बाँधकर चले हैं, जिससे हमारी जाति पुनः जीवित हो। हनूमानजी ने एक लक्ष्मणजी के लिए पहाड़ उलट डाले। हम क्या अपने हिन्दू बच्चोंके लिए, जिनमें से एक-एक राम-लक्ष्मणकी तस्वीर है, सारी ज़मीनको उलट पलट न कर देंगे कि उनकी बर्बादीके जो समान दिखाई देते हैं उनको दूर किया जाय।

संसारके इतिहासके अध्ययनसे क्या सिद्धान्त मालूम हुए हैं, जिन्हें पूर्व और पश्चिमके विद्वानोंने अपनी किताबोंमें बयान किया है। जातीय उन्नतिके नियम भूतकालके वर्णनोंमें छिपे हुए हैं। मरने वाले मर गये। परन्तु हमको जीवित रहनेकी तरकीब बता गये हैं। जो कुछ मनुष्य जातिने किया है, उस दास्तान का अक्षर अक्षर हमारे लिए पवित्र है, क्योंकि हम उससे जातीय और देशके आन्दोलनको सफलताके साथ चलानेकी तदबीर सीखते हैं।

संसारका इतिहास क्या ही समुद्र है, जिसमें अगणित जवाहर मौजूद हैं; जिन्हें बुद्धिमान ग़ोताख़ोर निकालते हैं और अपनी प्रियतमा जातिके सम्मुख उपस्थित करते हैं। इन विचारों और सिद्धान्तोंको जाति बड़े यत्नसे रखती है। इनकी इस प्रकार रक्षा करती है जैसे साँप ख़ज़ाने पर बैठता है। वैज्ञानिक विद्वान् सोच-विचारके पश्चात् जो ज्ञान इतिहाससे प्राप्त करते हैं उनसे जातिकी मुक्ति होती है। उस ज्ञानकी क़द्र न करने वाले नष्ट होते हैं। उसको सर-आँखों पर रखने वाले इस लोकमें भी और परलोकमें भी अपने मनोरथोंको पाते हैं।

हिन्दुस्तानके लिए संसारका इतिहास क्या सन्देश लाता है ? जो जातियाँ चल बसी हैं उन्होंने भीष्म पितामहकी तरह मृत्यु-शैय्यासे हमारे लिए क्या संदेश छोड़ा है ? जिन जातियोंकी आज सब तरहसे चलती है उनकी मिसालसे हमको क्या शिक्षा मिलती है ? जातीय उन्नतिके एक मोटे सिद्धांत पर विचार करना उचित मालूम देता है। सारे अंगों पर विचार करना असम्भव है। गागरमें सागरको क्योंकर बंद किया जा सकता है।

"जातीय जीवनका एक बड़ा सिद्धान्त जातीय इतिहासको जीवित रखना है।"

कुछ दक़ियानूसी पण्डित यों कहेंगे कि क्या बात बताई है। जप नहीं बताया, तप नहीं सिखाया; श्राद्ध, कर्म, पाठ आदि कुछ अच्छी तरकीब भी नहीं समझाई जिससे जातिका लाभ होता। यह क्या वाहियात व्यर्थका सिद्धांत निकाला है। यह भी कोई सिद्धांत है ! इसमें क्या ख़ूबी है ! यह कौन सी बारीक बात है। दर्शन नहीं, वेदान्त-सूत्र नहीं, योगाभ्यास नहीं, सर्व-दर्शन संग्रह नहीं। यह हेतु हेतुमद्भूतकी गणना किस रोगकी दवा है ? यह मरघटकी सैर किस बीमारीके लिए लाभकारी है ? इतिहास क्या है, यही कि अमुक मरा, अमुक पैदा हुआ। अस्तु, अब मुर्दोंका क्या रोना। स्यापे

की मियाद निश्चित है । यह जातीय स्थापेको सदा क़ायम रखनेकी सलाह क्या अर्थ रखती है । वाह, यह क्या भाटका काम है जिसमें ईश्वरीय ज्ञान नहीं, आत्माका नाम नहीं, सत-असतका विचार नहीं । यह था, वह था; हम थे, तुम थे–इस व्यर्थके वर्णनसे जातीय उन्नति क्या हो सकती है ! इस अनुमतिसे तो मृतक शरीरकी सी गंध आती है । उच्च मस्तिष्क वाले और न्यायप्रिय मनुष्य इसको कदापि सहन न करेंगे कि मुर्दोंकी क़ब्रें उलटा करें । यह तो जातीय मृत्युका कारण हो सकता है । जातीय जीवनकी शकल तो दिखाई नहीं देती । आदमी पंछी है । आज आया, कल चला गया । दस दिन ज्यों-त्योंकर बिता गया । अंतमें एक मुट्ठी राख बनकर गंगाजीकी शरणमें आगया । इतिहास ऐसे-ऐसे ही नौचंदीके मेलेके दर्शकोंके कारोबारका वर्णन है । इतिहास केवल एक बड़ा भारी पुलिसका रोज़नामचा तथा व्यापारिक बहीखाते और म्युनिसिपेलिटीके मौत और पैदाइशका रजिस्टर अथवा तीर्थके पण्डोंकी पोथीका संग्रह है । इससे अधिक उसकी और क्या प्रतिष्ठा है ? इतिहाससे कुछ सत्व प्राप्त नहीं होता, कोई मतलब नहीं पूरा होता, कोई सिन्द्धात प्रमाणित नहीं होता । फिर व्यर्थकी माथापच्ची क्यों की जावे ? हज़ारों राजा हुए हैं और लाखों और होंगे । प्रत्येकके राज्य कालका हाल पढ़ते-पढ़ते अक़्ल चक्करमें आजावे और कुछ हाथ न लगे । कोई भी मीमांसाका सिद्धान्त मालूम न हो । ब्रह्म-जीव की महत्ता, आत्माका उद्गम और उसके भविष्यका हाल, मनुष्यकी मानसिक शक्तियोंका वर्णन आदि । इनमें से कौनसे प्रश्नका इतिहास हल कर सकता है । इतिहास तो भाटों आदिकीजीविका का साधन है । बच्चोंके दिल बहलानेका खिलौना है । रातको लोरीके बदले इतिहासकी एक कहानी सुनाई कि बच्चा अच्छी तरह सो जाये । अलिफ़लैला न पढ़ी हिंदुस्तानका इतिहास पढ़ लिया । किन्तु जातिके मार्ग प्रदर्शकोंको, बुद्धिमानोंको, पण्डित ज्ञानियोंको अपनी लियाक़त इस व्यर्थकी विद्यामें नष्ट नहीं करनी चाहिए । मीमांसा पढ़ें, षट् शास्त्र पढ़ें, व्याकरण घोटें तो एक बात है । किन्तु इतिहाससे न आत्माकी शुद्धि होती है, न परमात्मा मिलता है यह किसी अर्थका नहीं है ।

हमारे पण्डितगण आज तक इतिहासकी ओर से ग़ाफ़िल हैं । कोई कवि है, कोई व्याकरण जानता है, कोई तर्कशास्त्र पढ़कर बालकी खाल निकालता है, कोई ज्योतिषसे ग्रहणका समय बता सकता है । किन्तु इतिहासके ज्ञाता कहाँ हैं ? पण्डितोंको तो यह भी मालूम नहीं होता है कि मुसलमानोंको इस देशमें आये हुए कितना समय हुआ, अथवा सिकन्दर महान कब सतलजसे अपना सा मुँह लेकर लौट गया था । जातीय इतिहासके सिलसिलेसे वे अनभिज्ञ होते हैं । उन्हें इससे क्या प्रयोजन कि कौन सी घटना कब हुई, या हुई भी कि नहीं हुई । उनको अन्य जातियोंका इतिहास तो अलग रहा, उनके अस्तित्वका भी ज्ञान नहीं होता । इसी कारणसे प्राचीन कालमें किन-किन जातियोंसे हमारा सम्बन्ध था, इस प्रश्नपर वे कुछ सम्मति नहीं दे सकते । दुःखका विषय है कि एक प्राचीन जातिके विद्वानोंका उसके इतिहाससे परिचय न हो । काशीजी में, नदियामें सब प्रकारकी विद्याका प्रचार है, शास्त्र, वेद,व्याकरण, सबकी प्रतिष्ठा है,किन्तु एक बेचारे इतिहासकी शक्लसे पण्डित बेज़ार हैं । इस विषयपर न कोई प्रमाणित ग्रन्थ है, न सूत्र रचे गये हैं, न वाद-विवाद होता है, न टीका लिखी जाती है ।

जब हम इतिहासके अध्ययनको जातीय जीवनका सिद्धान्त मानते हैं, तो पण्डितोंकी इस दशाको देखकर हमको यह कहानी याद आती है कि एक चौबेजी भोजन करने यजमानके घर गये। लड़का भी साथ था। उन्होंने उससे पूछा कि न्योता जीमनेका क्या नियम है ? लड़केने कहा कि आधा पेट खाना चाहिए, चौथाई पेट पानीके लिए और बाक़ी जगह हवाके लिए रखना ज़रूरी है। तब चौबेजीने कहा—तुम अभी बच्चे हो, अक्लके कच्चे हो। देखो, भोजनका सिद्धान्त यह है कि पूरा पेट खानेसे भर लो। पानीका गुण है कि इधर-उधरसे भोजनके बीचमें अपना रास्ता निकाल ही लेता है। और हवाका क्या है, आई गई, न आई न सही। इसी प्रकार पण्डितगण तर्क और व्याकरणपर लट्टू होते हैं। परन्तु जातीय इतिहासकी चिन्ता नहीं करते, जिसके बग़ैर न तर्क चलेगा न कवित्त लिखे जायेंगे।

"कौड़ी को तो ख़ूब सँभाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया"—जातीय इतिहासको जीवित रखना जातीय जीवनका उत्तम सिद्धान्त है।

प्रत्येक जातिका भाग्य उसके गुणोंपर निर्भर है। प्रत्येक जाति अपनी क़िस्मतकी ख़ुद मालिक होती है। यदि किसी जातिके बुरे दिन आ जायँ; यदि उसका धन दौलत, प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, राज-पाट, धर्म कर्म सब मिट्टीमें मिल जाय, तो उस समय उस जातिका क्या कर्तव्य है ? क्या विजयीको गालियाँ देनेसे उसका काम बन जायगा ? क्या विजयी लोगोंकी बदी, वादा-ख़िलाफ़ी, लालच या मक्कारीको प्रमाणित कर देनेसे उस जातिका भला हो जायगा ? क्या विजयीकी निन्दा करनेसे उसके अवगुणोंका पूरा इलाज हो जायेगा ! क्या शब्दाडम्बर, वाक्य कौशल और डींग-डप्पाल काम देगा ? क्या वाक्य-चातुरी और मृदुभाषिता उसका बेड़ा पार लगावेगी ? क्या विजयी लोगोंकी पोलिसी (कार्य-प्रणाली) पर पुस्तकें लिखने और उनको दुनियाँ भरका दग़ाबाज़ और चालबाज़ प्रमाणित कर देनेसे ही उस गिरी हुई जातिकी मोक्ष हो जायेगी ? नहीं, कदापि नहीं। जब कोई जाति अपने देशमें दुःख पाती है, जब उसकी कन्याएँ विजयी लोगोंकी लौंडियाँ और उसके नौजवान उनके ग़ुलाम बनाये जाते हैं, जब उसका अन्न उसके बच्चोंके पेटमें नहीं पड़ता और वे भूखसे त्राहि त्राहि करते हैं, जब उसके धर्मका नाश होता है और उसके राजा और पुरोहित विजयी लोगोंकी अर्दली में नौकर रखे जाते हैं, जब उसकी औरतोंकी इज़्ज़त विजयी लोगोंकी कुदृष्टिसे नहीं बच सकती और वे ऐसे देशमें रहनेसे मौतको बेहतर समझकर ज़हरका घूंट पीकर चल बसती हैं, जब किसी जातिकी ऐसी अप्रतिष्ठा और बदनामी होती है, तो उसके लिए आवश्यक है कि अपने हृदयको टटोले, अपने गुणोंकी परीक्षा करे, अपने आचरणकी जाँच-पड़ताल करे और मालूम करे कि वे कौनसे अवगुण हैं, जिनके कारण उसकी ऐसी गति हुई है। क्योंकि जब तक कोई जाति, जो संख्याकी दृष्टिसे पर्याप्त प्रतिष्ठा रखती हो, लालच, काहिली, ख़ुदग़र्ज़ी, इन्द्रिय लोलुपता और बुज़दिलीमें गिरफ़्तार न हो, उसपर तमाम दुनियाँकी जातियाँ मिलकर चढ़ आयें, तो भी विजय नहीं प्राप्तकर सकतीं। ऐसी जातिको चाहिए कि उन भीतरी शत्रुओंका मुक़ाबिला करे जो उसके जीवनको घुनकी तरह खा रहे हैं। तब वह बाहरी दुश्मनोंके सामने खड़ी रह सकेगी। जिसने मन जीता उसने जग जीता। और ऐसी जाति के उद्धारके लिए व्याख्यानदाताओं और लेखकों, वकीलों, बैरिस्टरों और डेलीगेटोंकी इतनी ज़रूरत नहीं है जितनी साधु सन्तोंकी, जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंपर

विजय प्राप्त करली हो। क्योंकि जाति लेखनकलाकी अनभिज्ञता या क़ानूनकी अवहेलना करनेसे नहीं गिरी, बल्कि उन सद्गुणोंके न होनेसे जो स्वतंत्र जातियोंमें पाये जाते हैं। अतः कोई विजित जाति पूछे कि मेरे अपमानका कारण कौन जाति है, तो जवाब दो कि तुम खुद हो, तुम ख़ुद हो। विजयी जाति किसी विजित जातिकी हारका कारण कभी भुले-भटके ही होती है। क्या गिद्ध जो लाशसे बोटियाँ नोच-नोचकर अपनी ज़्याफ़त करता है, उस शख्सकी मौतका कारण होता है? मरता तो आदमी बीमारी या दुर्घटनासे है। गिद्ध तो केवल इस बातको सब पर प्रकट करता है कि यहाँ लाश पड़ी है। वह चिन्ह है, सबब नहीं। परिणाम है, कारण नहीं।

जातीय इतिहास उन सद्गुणोंको जीवित रखता है जिनपर जातीय अस्तित्वका दारमदार है। चिराग़ ही से चिराग़ जलता है। महापुरुषोंकी मिसाल ही हमको उनका अनुकरण करनेपर तैयार करती है। इस वास्ते जिस जातिका कोई इतिहास न हो, उसकी उन्नतिके लिए ज़रूरी है कि वह किसी और जातिके साथ ऐसा सम्बन्ध पैदा करे कि उसके बुजुर्गोंको अपना समझने लगे, या ऐसा धर्म ग्रहण करे जिससे किसी जातिका इतिहास उसके लिए जोश दिलाने वाला बन जावे। उदाहरणार्थ अफ़रीकाके हब्शी स्वयम् उन्नति करनेके अयोग्य हैं, क्योंकि उनके पास कोई आदर्श नहीं है, कोई नाम नहीं है, जो उनको परोपकार, बहादुरी, सचाई सिखाये। उन हब्शियोंकी उन्नति आजकल मुसलमानी धर्मके द्वारा हो रही है। जब वे मुसलमान लोगोंके नबियों और औलियाओंके जीवन-चरित्र पढ़ते हैं और उनके कामोंकी तारीफ़ करते हैं, तो वे सभ्यता के सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं। अगर इस तरह किसी सभ्य जातिके इतिहाससे अपना सम्बंध स्थापित न करें, और उसकी ज्योतिसे अपनी ज्योति प्रज्वलित न करें, तो वे प्रलयतक अज्ञान और दुर्बलताके शिकार बने रहें। अतः इतिहास ही सब गुणोंका दाता है। इतिहास सब धर्मोंका संग्रह है। इतिहासके द्वारा हम महात्मा बुद्ध, श्रीशङ्कराचार्य, गुरु नानक आदि समस्त धार्मिक और नैतिक मार्ग प्रदर्शकोंके जीवन चरित्रसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इतिहासकी मुट्ठीमें सब धर्मोंका अनुकरण है। इतिहाससे बचकर कोई कहाँ जायेगा? यह तो हाथी है, जिसके पाँवमें सबका पाँव है।

इतिहास हमको स्मरण कराता है कि हमारा कर्तव्य क्या है। दुनियाँके झगड़ोंमें फँसकर जब हम उच्च विचारोंको भूलने लगते हैं, तो बुजुर्गोंकी आवाज़ सुनाई देती है कि ख़बरदार हमारी आन रखना, हमारा काम जारी रखना, सपूत रहना, जिस तरह हमने जाति और धर्मके लिए कोशिश की, उसी तरह करते रहना, ऐसा न हो कि हमारा प्रयत्न योंही नष्ट हो जाय। यह शङ्ख जातिको हर समय जगाता रहता है। इतिहास जातीय मञ्ज़िलकी अँधेरी रातमें चौकीदारकी तरह कहता है कि सोना मत; अपने मालकी रक्षा करो। यह सिद्धान्त कभी नहीं भूलना चाहिए कि नैतिक उन्नतिका प्रारम्भिक सोता मनुष्य होता है। जीता-जागता पाँच फुटका कोई आदमी ही जातिको सुधारता है। किताबें, मसले, रस्में, बाहरी टीम-टाम, कहावतें, मीमाँसाकी शुष्क बातें—ये सब उस आदमीके नौकर हैं, उसके मालिक नहीं। किताबें केवल रद्दीका ढेर हैं, यदि एक आदमी उनके अनुसार जीवन बसर करके नहीं दिखलाता। भजन, प्रार्थना, संस्कारके तरीके, शिक्षाका प्रबन्ध, नियम और उप-नियम, सभा, समाज,

मठ और टोल, अख़बार—ये सब ज़रिये व्यर्थ हैं, अगर कोई आदमी हमारे सामने उदाहरणके रूपमें न हो। ये सब मसाला तो तेल-बत्तीकी तरह है। एक आदमी का जीवन ही आग है, जिससे रोशनी फैलती है। यह सारा सामान बारातकी टीम-टाम है। दूल्हा तो वह महापुरुष है जिसके प्रत्येक कामसे हज़ार शिक्षाएँ मिलती हैं; जिसकी प्रत्येक बात जादूका असर रखती है; जिसका नाम समय यदि घिस-घिसकर भी मिटावे तो इतिहासकी पट्टीसे नहीं मिटेगा; जिसकी तस्वीर हर दिलमें रहेगी चाहे लोग और सब कुछ भूल जायँ। नैतिक उन्नतिपर मुल्की, दुनियावी और हर तरहकी उन्नतिका दारमदार है। अगर जातिके आदमी लालची, डरपोक और स्वार्थी हैं, तो वह जाति अवश्य नष्ट होगी, चाहे प्रत्येक गाँवमें पार्लियामेंट (राजसभा) बन जाय और दुनियाँ भरके अधिकार उन्हें दान कर दिये जायँ। यदि जातिका आचरण ठीक है तो प्रत्येक दशामें वह प्रसन्न रहेगी, चाहे कोई भी सभा या समाज या जलसे न होते हों। अतः इतिहाससे हम उन महात्माओंके वचन सुनते हैं, जिनके जीवनकी यादके बिना, मोटी मोटी किताबें चाहे वे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों; गम्भीर प्रश्न जो नारदजीकी समझमें भी न आवें; मीठे भजन जिनको सुनते सुनते लोग आनन्द मग्न हो जायँ; बड़ी कॉन्फ्रेरेन्सें (सभाएँ) जिनमें भारतवर्षका प्रत्येक परिवार तक प्रतिनिधि भेज दे; कॉलेज जिनकी छत आसमानसे बातें करती हों; व्याख्यान जिनको सुनने सरस्वती भी उतर आवे; समाचार पत्र जिनका प्रचार हर गाँवमें हो, बिल्कुल बेकार हैं! ये सब चीज़ किसी जातिको नहीं उठा सकतीं। इतिहास मनुष्योंसे हमारा परिचय कराता है और इस कारण हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है, इतिहास सन्तोंकी समाधि है। केवल समाधि चुप होती है। इतिहास उनकी हर बातका राग गाता है। समाधि शक्ल दिखाती है, किन्तु इतिहास प्रत्येक वचन और कार्य, प्रत्येककी आदत और प्रकृतिपर प्रकाश डालता है।

अतः जातीय आचरणपर जातीय अस्तित्व अवलम्बित है। जातीय आचरण उन आदमियोंके जीवन का सहारा है, जिन्होंने धर्म और सत्यका पालन किया है। इतिहास इन महात्माओंके जीवनचरित्रका नाम है। इसलिए इतिहासपर जातीय अस्तित्व अवलम्बित है। दो बड़े सिद्धान्त जिनसे यह सचाई प्रमाणकी हद तक पहुँचती है, हमें याद रखने आवश्यक हैं। पहला है—

"जातीय आचरण की महत्ता"

छोटी जातियां जिनके पास धन न हो, न हथियार, केवल आचरणमें उच्च होनेके कारण बड़ी जातियोंकी दौलत और शक्ति छीन सकती हैं। आचरण ही मनुष्यों के जीवनको सफल करता है और हमारी मानुषिक शक्तियोंको उन्नति करनेका अवसर देता है। जिस जाति के पास आज सद्गुण मौजूद नहीं हैं, किन्तु दुर्ग हैं, मन्दिर हैं, खज़ाने हैं, तोपें हैं, तो समझ लो कि वह जाति उस मकानकी तरह है, जो खोखली नींव पर खड़ा है। उसके मन्दिर गिराए जायँगे और उनकी ईंटों में उसके बच्चे चुने जायँगे, उसके ख़ज़ाने लूटे जायँगे और उसके शत्रुओंको मालामाल करेंगे, उसकी तोपें उसीका नाश करनेके लिए काममें लाई जायँगी और उसके घरोंकी ओर उनके मुँह किये जायँगे। इसके विपरीत यदि जातिमें अच्छे गुण हैं, तो वह न केवल अपनी रक्षा कर सकेगी, बल्कि दूसरोंको सहायता भी देगी। उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी न देख सकेगा। उसके सरका बाल तक बाँका न होगा। उसकी मर्यादा बढ़ेगी। उसके खेत हरे-भरे रहेंगे और उससे ईर्ष्या करनेवालोंका मुंह काला होगा। दूसरा सिद्धान्त है—

"नैतिक उन्नतिके लिए जीवनकी उपमा की आवश्यकता

आचरण तो करनेकी विद्या है, कहनेकी तो बात ही नहीं है। जर्मनीके प्रसिद्ध कवि गेटेने कहा है कि तुम्हारा प्रति दिवसका जीवन अत्यन्त शिक्षा जनक पुस्तकसे अधिक उपदेश दे सकता है। प्रत्येक मनुष्यका बर्ताव ऐसा होना चाहिए कि वह स्वयं मूर्तिमान शास्त्र

हो। परोपकारपर व्याख्यान देनेकी उसे आवश्यकता न रहे, क्योंकि उसकी शक्ल ही हज़ार व्याख्यानोंका असर रखती हो। लालचके विरुद्ध उसे उपदेश देना न पड़े। प्रसिद्ध है कि एक कविका एक शिष्य नित्य उसे दिक़ करता कि आपने यह शुद्धि किस किताबके आधार पर की है, वह शुद्धि किस नियमके अनुसार है। एक दिन गुरुजी झल्ला गये और कहा, अरे हम कविता कहते-कहते स्वयं पुस्तक बन गये हैं, तू यह क्या पूछता रहता है। इसी तरह वे ही मनुष्य जातिको पुनः उन्नतिके मार्गपर ले जा सकते हैं, जिनसे अगर पूछा जाय कि यह बात आप किस आदर्शकी दृष्टिसे करते हैं, परोपकार किस सिद्धान्तसे करना आवश्यक है, तो वे कह सकें कि भाई हम स्वयं आदर्श और सिद्धान्त हैं। हमारा जीवन ही हमारे अनुकरणका प्रमाण है। अधिक क्या कहें। केवल पुस्तक अवसरपर काम न आवेगी। मंत्र समयपर धोखा देगा। प्रार्थना क्या ख़बर है सुनी जाय या न सुनी जाय, तावीज़ कठिनाईमें टूटकर गिर पड़ेगा। श्लोक और ऋचाएँ हृदयको ढाढ़स न देंगी। ये सब उसी समय काम आवेंगी जब किसी महापुरुष का चित्र आँखोंमें फिरता हो, जिसने उन परीक्षाओंका मुकाबिला किया हो जिनका हमें सामना करना है। उनकी सहायता ही हमारी मुक्तिका कारण होगी।

अतएव सम्मिलित महापुरुष-पूजाको ही अँगरेज़ी लेखक कार्लाइल सारी उन्नतिका मूल मानता है। उसकी सम्मतिमें संसारका इतिहास केवल महान पुरुषोंकी करामातका प्रत्यक्ष रूप है।

जातीय इतिहाससे अपने रिवाजों, प्रथाओं और जातीय संस्कारोंकी प्रतिष्ठा होती है।

प्रत्येक जातिका अस्तित्व आचरणके अतिरिक्त उन रिवाजोंपर निर्भर है जिन्हें वह मानती है। ये रिवाज भी आचरणको बनाये रखनेके अभिप्रायसे चलाये जाते हैं और बहुधा प्राचीन पुरुषोंकी स्मृतिको बनाये रखने का कारण होते हैं। प्रत्येक जातिकी अलग चाल-ढाल होती है। आदमी आदमीमें अन्तर है। कोई हीरा है कोई पत्थर है। हर जातिकी भाषा, रहनेका तर्ज़, त्योहार, मेले तमाशे, शादी और ग़मीके दस्तूर अलग-अलग हैं। वे उसके भूत-कालीन अनुभवके परिणाम हैं। ये विशेषताएँ उसके देश और उसकी आवश्यकताओंके अनुसार होती हैं और उसकी क़ौमी हैसियत को प्रकट करती हैं। इस तरह हर क़ौम, हिन्दु मुसलमान, अंग्रेज़ फ्रांसीसी अलग पहचानी जाती है। उस के जीवनका प्रत्येक अंग यह प्रकट करता है कि उसके विशेष गुण हैं और विशेष कर्तव्य और विशेष शक्तियाँ हैं। अतः जातीय विशेषताओंका बनाये रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ पोशाक ही को लीजिए। यों तो कपड़े पहननेका बड़ा अभिप्राय गरमी-सरदीसे बचना और लाज-शरम को बनाये रखना है। किन्तु जब कोई जाति एक विशेष पोशाक ग्रहण कर लेती है, तो एक अभिप्राय भी हो जाता है। वह पोशाक उस जातिकी एकताका चिन्ह हो जाती है, और उसे दूसरोंसे अलग करती है। हर जातिके लिये उसकी प्रथाएँ और उसके समाजका ढाँचा सीपीकी तरह है, जिसमें उसके सद्-गुणों और विचारोंका मोती छिपा रहता है। जब मोता सीपीकी शरणसे निकला तो ग़ैरोंके हाथ बिक गया। या यों कहो कि जातिके रिवाजोंका चौखटा उसके हृदय और दिमाग़के दर्पणको रौनक़ देता है ताकि वह संसारके इतिहासकी प्रदर्शनीमें दीवार पर अच्छी जगह रखे जानेके योग्य हो। जाति यदि सिपाही है, तो उसकी संस्थाएँ (अर्थात् स्थायी जातीय विशेषताएँ, जैसे भाषा त्योहार आदि) और उसके संस्कार लोहेके कवच हैं, जो उसे दुश्मनोंके तीरोंसे बचाते हैं। यदि जाति हीरा है तो संस्थाएँ अँगुठी हैं, जिसमें वह अपनी चमक-दमक दुनियाँके बाज़ारके जौहरियोंको दिखलाता है।

जातीय इतिहाससे हमको पता लगता है कि हमारे रिवाजों और संस्थाओंकी क्या वास्तविकता है, किस अभिप्रायसे उन्हें स्थापित किया गया था; उनमें क्या खूबियाँ हैं, उनमें जातिकी एकता और आचरण को किस प्रकार सहायता मिलती है। जिन रिवाजोंके लाभोंसे हम अनभिज्ञ हैं उनके लिए हमारे दिलमें इज़्ज़त नहीं हो सकती। उनको अवश्य ही हम बेहूदा और व्यर्थ समझने लगेंगे। उनसे घृणा करने लगेंगे।

इस प्रकार हमारा दैनिक जीवन कण्टकाकीर्ण हो जायगा। क्योंकि हमको अपने जातीय चाल-ढालसे प्रेम न रहेगा। फिर हमको अपने दस्तूर और नियम पीजड़ेकी तीलियाँ दिखाई देने लगेंगी, जिनसे हम पङ्ख मारते-मारते घायल हो जाएँगे।

जातीय इतिहास ऐक्यका द्वार है

आज कल एकता की बड़ी धूम है। कौवों की सी काएँ-काएँ सब ओर हो रही है। शायद यह आशा है कि कौवों का सा एका उनकी तरह शोर मचाने से हो जायेगा। कोई कुछ प्रस्ताव पेश करता है, कोई कुछ उपाय बतलाता है। वास्तव में जातीय इतिहास ही एकता की बड़ी कुंजी है। क्योंकि जाति के कारनामों और संस्थाओं में सबका भाग है। सबको वे जान से प्यारे हैं। आज कुछ भी झगड़ा टण्टा हो, थोकबन्दियाँ हों, परन्तु त्योहारके दिन सब भेद भाव भूल जाते हैं। बुजुर्गोंका नाम लेकर सब गले मिलते हैं और जातीय उत्थानकी मन-मोहक कहानियाँ सुनकर, सुनाकर खुशी से फूले नहीं समाते हैं। जातीय महापुरुषोंका नाम सदैव जातिके समस्त दलोंको प्रिय होता है और वास्तवमें देखो तो जातीय इतिहास ही जातीय प्रतिष्ठाका चिन्ह है। जातिमें प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती रहती है। समय सारी प्रथाओंको कुछका कुछ कर दिखाता है। वस्त्र, भोजन, भाषा, सब बातोंमें थोड़ा थोड़ा हेर-फेर होता रहता है। धर्ममें क्रान्ति उपस्थित हो जाती है। इंगलिस्तान जो आज रोमके नामसे चिढ़ता है, कई-सौ वर्ष पहले रोमके धर्मका अनुकरण करने वाला था। अब अंग्रेज व्यापार, शिल्प और कला-कौशलसे जीविका कमाते हैं। सारा देश एक भट्टी बना हुआ है भूतकालमें खेतीसे पेट भरते थे। सारा देश खेतीसे लहलहाता था। साराँश यह कि यदि अंग्रेजोंके पित्र अब वापिस आवें तो, अपनी सन्तानको पहचान भी नहीं सकते। अतः वह क्या वस्तु है, जिससे यह विचार बना रहता है कि हम एक जाति हैं और सदासे रहे हैं? जातीय शक्तिकी वृद्धि करना हमारा कर्तव्य है? केवल जातीय इतिहाससे यह भावना बनी रहती है। जाति की क्षणिक संस्थाओंमें इतिहास अटल संस्था है। जातिकी अन्य प्रथाएँ और विशेषताएँ तोताचश्म हैं। जो आज उन्नतिका कारण हैं, कल वही हानिकारक प्रमाणित हुई हैं। एक समय जातिको विजय दिलाती हैं, दूसरे अवसर पर उसको नीचा दिखलाती हैं। किन्तु जातीय इतिहास वह वस्तु है, जो हमेशा मूल्य रखती है। यह कभी जातिको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचा सकता। हमेशा सदाचरण और एकता सिखाता रहता है। अतः हम देखते हैं कि जातिकी समस्त बातें बदलती रहती हैं, बल्कि समय मजबूर करता है कि जाति उनको बदलती रहे। किन्तु जातीय इतिहास उन सब रिवाजोंके मोतियोंको जो किसी समय जातिके प्रिय पात्र रहे हों, एक लड़ीमें गूंथकर एक ऐसी माला बनाता है, जिसका पहिनना बच्चेका अधिकार और कर्तव्य है और जिससे जातिकी मानसिक और नैतिक उन्नतिका पता चलता है।

अतः जातीय इतिहास ही जातिके व्यक्तियोंको मिला सकता है। क्योंकि बुजुर्गोंसे किसको दुश्मनी है? आपसमें कितना ही लड़ें, श्राद्धके दिन तो सब सम्बन्धी जमा हो ही जाते हैं। जातीय इतिहास यह स्मरण करता रहता है कि तुम वास्तवमें वही हो, जो पहले ऐसा ऐसा करते रहे। तुम्हारे विकासका मूल वही है। तुम पर यह बीती है। तुमने अमुक-अमुक काम किये हैं। ये सब बातें जातिके प्रत्येक मनुष्य पर सही उतरती हैं। वह अपने वंश, अपने धर्म, अपने रिवाजों और प्रथाओंसे इन्कार नहीं कर सकता। अतः जिस जाति का इतिहास जीवित है, वह कभी भीतरी झगड़ोंसे नष्ट नहीं हो सकती।

इसलिए सभी जातियाँ अपने इतिहासको जीवित रखना अपना धर्म समझती हैं। बुजुर्गोंकी यादगार कायम करने को मुख्य कर्तव्य ख़याल करती हैं। निम्न लिखित उपायोंसे इतिहासका ज्ञान फैलाया जाता है:—

(१) त्योहारके दिन जातिके इतिहासमें मुबारक हैं—उनके आने पर खुशी मनाना जातीय इतिहास सिखानेका सुगम मार्ग है। जैसे अमेरिका और फ्रांसमें स्वाधीनताके आन्दोलनकी सफलताकी यादगारमें जुलाईमें त्योहार मनाया जाता है। इंगलिस्तानमें अब एक

नया त्योहार एम्पायर डे (साम्राज्य दिवस) स्थापित करनेकी सम्मति है, जो विक्टोरियाके जन्मके दिन मनाया जाता है। इसका अभिप्राय है कि बच्चोंको ब्रिटिश साम्राज्यकी ओर अपने कर्तव्यका स्मरण रहे।

(२) शहरों, बाजारों और अन्य स्थानोंकानाम बुजुर्गोंके नाम पर रखना। यह रिवाज सारे संसारमें पाई जाती है। पेरिसमें सारे शहरमें नेपोलियनका नाम गूँजता है। उसकी बिजय जयन्तियोंकी तारीख हर गली-कूचेंकी दीवारों पर लिखी हुई है। यहाँ तक कि जिन तारीखोंपर कोई प्रसिद्ध जातीय घटना हुई है, उनको भी किसी जगहका नाम बना दिया है, मसलन एक गली और स्टेशनका नाम "४ सितम्बर" है। पहले पहल मैं चकित रह गया कि यह क्या मामला है। यह ४ सितम्बर क्या वस्तु है? किन्तु मालूम हुआ कि इसी प्रकार १४ जुलाई आदि नाम भी हैं। लन्दनमें ट्राफलगर चौक, वाटरलू स्टेशन इंगलिस्तानकी जल और थल शक्तिकी यादगारें हैं। फ्राँसके कोई कोई जहाज़ फ्राँसके विद्वानोंके नाम पर हैं।

(३) खास तौर पर मूर्ति या मकान बनाना—मूर्ति सदासे बुजुर्गोंकी यादगार स्थापित करनेका अच्छा तरीका चला आया है। अतः लन्दन और पैरिसमें मूर्तियोंसे बड़े मन्दिर बन रहे हैं। पेरिसमें लूथर अजायब घरकी छतपर सैंकड़ों मूर्तियाँ बराबर-बराबर लगाई गई हैं। मानों वे पत्थरकी शक्लें अपने बच्चोंके कारोबार प्रेम भरी दृष्टिसे देख रही हैं। लन्दनमें प्रत्येक पग पर किसी न किसी महापुरुषकी मूर्ति दिखलाई पड़ती हैं। मानों हर गलीमें जातीय इज्जतका चौकीदार खड़ा है। एल्बर्टकी स्मृतिमें एक बड़ा ही शानदार मकान बनाया गया है और नेपोलियनका मक़बरा पेरिसमें एक देखने योग्य वस्तु है।

(४) बच्चोंके नाम रखना—जाति अपने मकानों और बाज़ारोंको महापुरुषोंके नामसे पवित्र करती है, तो क्या अपने प्यारे बच्चोंको, जो उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, इस आशीर्वादसे वञ्चित रख सकती है? प्रत्येक जाति अपने बच्चोंको वे नाम देती है, जिनका जीवित रखना उसका कर्तव्य है। मानों हमारे बच्चे उत्पन्न होते ही जातीय इतिहासमें भाग लेने वाले बन जाते हैं। और यद्यपि अभी तुतलाना भी नहीं सीखा, तो भी चुपचाप जातीय, प्रतिष्ठाको प्रकट करते हैं। क्यों न हो; इतिहास उन्हींकी तो बपौती हैं। जो कुछ बुजुर्गों ने कमाया था और जो कुछ हमने प्राप्त किया है, सब उन्हींके लिए है, और किसके लिए है?

(५) पाठशालाओंमें शिक्षा—पहले सभ्य जाति बच्चोंको पाठशालाओंमें अपना इतिहास सिखाती है और उसको रोचक बनाती है महापुरुषोंके चित्र उसमें लगाती है। देशभक्तिपूर्ण कविताएँ पढ़ाई जाती हैं।

(६) कवियोंकी वाणी—जब कोई कवि क़लम लेकर बैठता है, तो वह बहुधा महापुरुषोंकी गाथा सुनाता है। जातीय इतिहासके अगणित आकर्षक दृश्य, जातीय सूरमाओंके कारनामे, जातीय अस्तित्व और उन्हींके लिए प्रयत्नोंकी कथाएँ, ये सब उसकी आँखोंमें फिरती हैं और उसकी जिव्हाको पाचन शक्ति प्रदान करती है:—

बैठे तनूरे तवाको जब गर्म करके मीर,
कुछ शीरमाल सामने कुछ नान कुछ पनीर।

जातीय इतिहासकी सैकड़ों कथाओंमें से कोई फड़कती हुई कहानी कह डालता है और जातिको सदा के लिए अपना प्रेमी बना जाता है।

(७) इतिहास विद्याके विद्वानोंकी सहायता—प्रत्येक युनीवर्सिटी (विश्वविद्यालय) में कई प्रोफेसर (शिक्षक) होते हैं, जो इतिहासके अध्ययनमें लगे रहते हैं; और जातिको अपनी जानकारीसे लाभ पहुँचाते हैं। वे दिन-रात परिश्रम करते हैं और जातीय इतिहासके सम्बन्धमें छान बीन और अन्वेषण करनेमें संलग्न रहते हैं। ❀ (चाँदसे उद्धृत)

❀ अनुवादक—श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, बी० ए० भूतपूर्व एम० एल० सी०

भगवान महावीर और उनका उपदेश

[ले०—श्रीमान् बा० सूरजभानजी वकील]

वीर भगवानका जन्म विदेह देशकी प्रसिद्ध राजधानी वैशालीके निकट कुण्डग्राममें हुआ था, जिसको कुंडलग्राम या कुंडलपुर भी कहते हैं। आपके पिता राजा सिद्धार्थ कुण्डग्रामके राजा थे और आपकी माता वैशालीके महाराजा चेटककी बेटी प्रियकारिणी थी, जो त्रिशलाके नामसे भी प्रसिद्ध थी। राजा चेटक की दूसरी लड़की चेलना मगध देशके प्रसिद्ध महाराजा श्रेणिकसे ब्याही गई थी। वीर भगवान ३० बरसकी आयु तक अपने पिताके घर ब्रह्मचर्य अवस्थामें रहे, फिर संसारके सारे मोहजालसे नाता तोड़, सन्यास ले, नग्न अवस्था धारण कर परम वैरागी होगये और आत्म ध्यानमें लीन होकर अपनी आत्माकी शुद्धिमें लग गये। बारह वर्ष तक वे पूरी तरह इसी साधनामें लगे रहकर घातिया कर्मोंका नाशकर केवल ज्ञानी हो गये। तब उन्होंने दूसरोंको भी इस संसाररूपी दुःखसागरसे निकालनेके लिये नगर नगर और ग्राम ग्राम घूमना शुरु किया। नीच-ऊँच, अमीर ग़रीब सबही को अपनी सभा में जगह देकर कल्याणका मार्ग बताया। प्रायः ३० वर्ष इस ही कामसे बिताये और फिर ७२ वर्षकी आयु में आयुकर्म पूरा होने पर इस शरीरका भी सदाके लिये संग छोड़, पूर्ण शुद्ध बुद्ध और सत्-चित्-आनन्द स्वरूप होकर तीन लोकके शिखर पर जा विराजे, जहाँ वह अनन्तकाल तक इसही अवस्थामें रहेंगे। कभी भी संसारके चक्करमें नहीं पड़ेंगे।

वीर भगवानने स्वयं स्वतन्त्र होकर दूसरोंको स्वतन्त्र होनेका रास्ता बताया और इसके लिये अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया। कर्मोंकी जंजीरोंमें जकड़े हुए विषय-कषायोंके गुलाम बने हुए, बेबस संसारी जीवोंको समझाया कि—जिस प्रकार आगकी गर्मी पाकर ठंडा शांत और स्वच्छ पानी गर्म होकर खलबलाने लगता है, तरह तरहके जोश आकर देगचीमें चक्कर लगाने लग जाता है इसी प्रकार कर्मके सम्बन्ध में तुम्हारी जीवात्माके शान्ति स्वरूप और ज्ञान गुणमें फ़रक़ आरहा है, विषय कषायोंके उबाल उठते हैं और यह जीव इन्द्रियोंका गुलाम होकर संसारमें चक्कर लगाता फिर रहा है। अगर वह हिम्मत करे तो इस गुलामीसे निकल कर आज़ाद हो सकता है और अपना ज्ञानानन्द स्वभाव प्राप्त कर सकता है। परन्तु विषय कषायोंकी यह गुलामी उनकी ताबेदारी करने और उन के अनुसार चलनेसे दूर नहीं हो सकती, किन्तु अधिक अधिक ही बढ़ती है। विषय-कषायोंसे कर्मबंधन और कर्मोदयसे विषय-कषाय उत्पन्न होते रहते हैं। वह ही चक्कर चल रहा है और जीव इससे छूटने नहीं पाता, विषय कषायोंके नशेमें उत्पन्न हुआ भटकता फिर रहा है। जिस तरह रामचन्द्रजी सीताके गुम होने पर वृक्षों से भी सीताका पता पूछने लग गये थे अथवा जिस तरह थालीके खोये जानेपर उसकी तलाशमें कभी कभी कोई घड़ेमें भी हाथ डाल देते हैं, उसी ही तरह विषय-कषायोंकी पूर्तिके लिये यह जीव संसार भरकी खुशामद करने लगता है। आग, पानी, हवा, धरती, पहाड़, सूरज, चांद, झाड़, झूंड़ और नदी-नाले आदि पदार्थों को भी पूजने लग जाता है। नहीं मालूम कौन हमारा कारज सिद्ध कर दे, ऐसा बेसुध होनेके कारण यदि कोई किसी ईंट पत्थरको भी देवता बता देता है तो उससे ही अपनी इच्छाओंकी पूर्तिकी प्रार्थना करने लग जाता है। अपने ज्ञान गुणसे कुछ भी काम नहीं लेता है, महा नीच-कमीना बन रहा है और कण-कणसे डर कर उसको पूजता फिरता है।

परन्तु इस जीवमें केवल एक भय कषाय ही नहीं है जो हर वक्त खुशामद ही करता फिरता रहे। इसको तो क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, ग्लानि, हास्य, शोक औरकामदेव यह सब ही कषाय सताती हैं और सब ही तरहके उबाल उठते हैं। कभी घमण्डमें आकर अपनेसे कमजोरोंको पैरों तले ठुकराता है, ऊँचे दर्जेके काम करने और उन्नतिके मार्ग

पर चढ़नेकी उनको इजाज़त नहीं देता है और यहां तक बढ़ जाता है कि धर्मके कामोंके करने से भी उनको रोक देता है, धर्मका जाननेका भी मौका नहीं देता है। मायाचारके चक्करमें आकर चालाक लोगोंने तरह तरहके देवता और तरह तरहकी मिथ्या धर्म क्रियाओंमें पड़कर भटकते हुये भोले लोगोंको ठगना शुरु कर दिया है।

यह सब कुछ इस ही कारण होता है कि लोग संसारके मोहमें अन्धे होकर बिना जांचे तोले आँख मीचकर ही एक एक बातको मान लेते हैं और झूठे बहकावेमें आ जाते हैं। वीर भगवानने लोगोंको इस भारी जंजालसे निकालनेके वास्ते साफ शब्दोंमें समझाया कि वह आँख मीचकर किसी बातको मान लेनेकी मूर्खता (मूढ़ता) को त्याग कर, वस्तु स्वभावकी खोज करके नय-प्रमाणके द्वारा हर एक बातको मानकर ख्वामख्वाह ही न डरने लग जावे; इस तरह लोगोंके मिथ्या अन्धकारको दूर करके और उनके झूठे भ्रम को तोड़करके उनको बेखौफ बनाया और अपने आप को कर्मोंके फन्देसे छुड़ाकर आज़ाद होनेके लिये कमर कसना सिखाया। वस्तु स्वभाव ही धर्म है, जबयह नाद वीर भगवानने बजाकर लोगोंको गफ़लतकी नींद से जगाया, पदार्थके गुण बताकर लोगोंका भय हटाया और सब ही जीवोंमें अपने समान जीव बनाकर आपस में मैत्री तथा दयाभाव रखनेका पाठ पढ़ाया, और इस प्रकार जगत भरमें सुख शांति रहनेका डंका बचाया, तब ही लोगोंको होश आया।

वस्तुस्वभाव ही धर्म है, इस गुरु-मंत्रके द्वारा वीर भगवान्ने लोगोंको समझाया कि विषय कषायोंकी गुलामीसे आज़ाद होना और अपना ज्ञानानन्द असली स्वरूप प्राप्त करना ही जीवका परमधर्म है, जिसके लिये किसीकी खुशामद करते फिरने या प्रार्थनायें करनेसे काम नहीं चल सकता है, किन्तु स्वयम् अपने पैरों पर खड़े होने और हिम्मत बाँधनेसे ही काम निकलता है। जिस प्रकार बीमारको अपनी बीमारी दूर करनेके लिये स्वयं ही दवा खानी पड़ती है, स्वयं ही कुपथ्यसे परहेज़ रखना होता है, किसी दूसरेके करनेसे कुछ नहीं हो सकता है और न किसीकी खुशामद करने या भक्ति-स्तुति करनेमे ही यह काम बन सकता है। बीमारी तो शरीरमें से मल दूर होनेसे ही शांत होती है, इस ही प्रकार यह जीवात्मा भी विषय-कषायोंके फन्देसे तब ही छूट सकता है जब कि कर्मोंका मैल उससे अलग हो जाय और वह शुद्ध और पवित्र होकर ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप ही रह जाय। परन्तु यह काम तो जीवात्माके ही करनेका है, किसी दूसरेके करनेसे तो कुछ भी नहीं हो सकता है।

संसारमें हज़ारों देवी-देवता बताये जा रहे हैं जिनकी तरफ़से चारों खूंट यह विज्ञापन दिया जाता है कि वह सर्व शक्तिमान् हैं, जो चाहें कर सकते हैं, उनको राज़ी करो और अपना काम निकालो। हज़ारों लोग इन देवी देवताओंके ठेकेदार बनते हैं, और दावा बाँधते हैं कि हमको राज़ी कर लो तो सब कुछ सिद्ध हो जाय, परन्तु इसके विरुद्ध वीर भगवान्ने यह नाद बजाया कि जीव तो अपनी ही करनीसे आप बँधता है और अपनी ही कोशिशसे इस बँधनसे निकल सकता है, किसी दूसरेके करनेसे तो कुछ भी नहीं हो सकता है। और इसी कारण इन्द्रादिक देवताओंसे पूजित श्री वीर भगवानने अपनी बाबत भी यही सुनाया कि मैं भी किसीका कुछ बिगाड़ सँवार नहीं कर सकता हूँ। इस कारण किसी दूसरेका भरोसा छोड़कर जीवको तो आप अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहिये। कर्मोंका बन्धन तोड़नेके वास्ते आप ही विषय-कषायोंसे मुँह मोड़ना चाहिये। विषय कषायोंसे ही कर्मबन्धन होता है और कर्मोंके उदयसे ही विषय-कषाय पैदा होते हैं, यह ही चक्कर चल रहा है, जो अपनी ही हिम्मतसे बन्द किया जा सकता है। किन्तु जिस प्रकार पुराना बीमार एकदम तन्दुरुस्त और शक्तिशाली नहीं हो सकता है, दीर्घ काल तक इलाज करते करते आहिस्ता आहिस्ता ही उन्नति करता है, उस ही प्रकार कर्मोंका यह पुराना बन्धन भी साधना करते करते आहिस्ता आहिस्ता ही दूर हो पाता है।

इस ही साधनाके लिये वीर भगवानने गृहस्थी और मुनि यह दो दर्जे बताये हैं। जो एकदम रागद्वेष और विषय कषायोंको नहीं त्याग सकते हैं उनके लिये गृहस्थ

मार्गका उपदेश दिया, जिसमें वह कुछ-कुछ रागद्वेषको कम करते हुए अपने विषय कषायोंको भी पूरा करते रहें और उन्हें रोकते भी रहें। इस तरह कुछ कुछ पाबन्दी लगाते लगाते अपने विषय कषायोंको कम करते जावें और रागद्वेषको घटाते जावें। जिन लोगोंने हिम्मत बाँधकर अपनेको विषय कषायोंके फंदेसे छुड़ा लिया है, रागद्वेषको नष्ट करके कर्मोंकी जंजीरोंको तोड़ डाला है और अपना असली ज्ञानानन्द स्वरूप हासिल कर लिया है! उनकी कथा कहानियाँ सुनकर, उनकी प्रतिष्ठा अपने हृदयमें बिठाकर खुद भी हौसला पकड़ें और विषय कषायों पर फ़तह पाकर आगे ही आगे बढ़ते जावें। यह ही पूजा भक्ति है जो धर्मात्माओं को करनी वाजिब है। और जो पूरी तरहसे विषय कषायों को त्याग सकते हैं, राग-द्वेषको दबा सकते हैं उन्हें गृहस्थदशा त्याग कर मुनि हो जाना चाहिये। दुनियाका सब धन्धा छोड़कर अपनी सारी शक्ति अपनी आत्माको राग-द्वेषके मैलसे पवित्र और शुद्ध बनाने और अपना ज्ञानानन्दस्वरूप हासिल करनेमें ही लगा देनी चाहिये।

वस्तु-स्वभावके जानने वाले सच्चे धर्मात्मा अपना काम दूसरोंसे नहीं लिया चाहते। वह दीन हीनोंकी तरह गिड़गिड़ा कर किसीसे कुछ नहीं माँगते हैं। हाँ, जिन्होंने धर्म-साधन करके अपने असली स्वरूपको हासिल कर लिया है, उनकी श्रद्धा और शक्ति अपने हृदयमें बिठा कर खुद भी वैसा ही साधन करनेकी चाह अपने मनमें ज़रूर जमाते हैं। धर्मका साधन तो राग-द्वेष को दूर करने और विषय-कषायोंसे छुटकारा पानेके वास्ते ही होता है, न कि उल्टा उन्हींको पोषनेके वास्ते। इसही कारण वीर भगवानका यह उपदेश था कि कोई गृहस्थी हो या मुनि धर्मात्माको तो हरगिज़ भी किसी भी धर्म-साधनके बदले किसी सांसारिक कार्यकी सिद्धिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अगर कोई ऐसा करता है तो सब ही करे करायेको मेटकर उल्टा पापोंमें फँसता है। धर्मसेवन तो अपनी आत्मिक शुद्धिके वास्ते ही होता है न कि सांसारिक इच्छाओंकी पूर्तिके वास्ते, जिससे आत्मा शुद्ध होनेके स्थान में और भी ज्यादा खराब होती है—उन्नति करनेके बदले और ज्यादा नीचेको गिरती है। इस कारण जितना भी धर्मसाधन हो वह अपनी इन्द्रियोंको क़ाबूमें करनेके वास्ते ही हो। अधिक धर्म-साधन नही हो सकता है तो थोड़ा करो, रागद्वेष बिल्कुल नहीं दबाये जा सकते हैं तो शुभ भाव ही रखो, सबको अपने समान समझ कर सब ही का भला चाहो। दया भाव हृदयमें लाकर सब ही के काम में आओ। किसीसे भी द्वेष और ग्लानि न करके सब ही को धर्म मार्ग पर लगाओ। सांसारिक जायदादकी तरह धर्म बाप-दादाकी मीरासमें नहीं मिलता है और न माल-असबाबकी तरह किसीकी मिलकियत ही हो सकता है। तब कौन किसीको धर्मके जानने या उसका साधन करनेसे रोक सकता है? जो रोकता है वह अपने को ही पापोंमें फँसाता है। घमण्डका सिर नीचे होता है। जो अपनेको ही धर्मका हक़दार समझता है और दूसरोंको दुर-दुर-पर-पर करता है वह आप ही धर्मसे अनजान है और इस घमण्डके द्वारा महापाप कमा रहा है। धर्मका प्रेमी तो किसीसे भी घृणा नहीं करता है। घृणा करना तो अपने धर्म श्रद्धानमें विचिकित्सा नामका दूषण लगाना है। सच्चा धर्मात्मा तो सब ही जीवोंके धर्मात्मा हो जानेकी भावना भाता है। नीचसे नीच और पापीसे पापीको भी धर्मका स्वरूप बताकर धर्ममें लगाना चाहता है। धर्म तो वह वस्तु है जिसका श्रद्धान करनेसे महा हत्यारा चाण्डाल भी देवोंसे पूजित हो जाता है और अधर्मी स्वर्गोंका देवभी गंदगीका कीड़ा बन कर दुःख सठाता है। इस ही कारण वीर भगवानने तो महानीच गंदे और महा हत्यारे मांस भक्षी पशुओंको भी अपनी सभामें जगह देकर धर्म उपदेश सुनाया। धर्मका यह ही तो एक काम है कि वह पापी को धर्मात्मा बनावे, जो उसे ग्रहण करे वह ही उन्नति करने लग जावे, नीचेसे ऊँचे चढ़ जावे और पूज्य बन जावे। धर्म तो पापियोंको ही बताना चाहिये, नीचों से उनकी नीचता छुड़ाकर उनको ऊपर उभारना चाहिये। जो कोई महानीच-पापियोंको धर्मका स्वरूप बता कर उनसे पाप छुड़ानेकी कोशिश करनेको अच्छा नही समझता है, पापसे घृणा नहीं करता है, कठोर

चित्त होकर उनको पापमें ही पड़ा रहने देना चाहता है, वह तो आप ही धर्मसे अनजान और दीर्घ संसारी है। धर्मका द्वार तो सब ही के लिये खुला रहना चाहिये और जितना कोई ज्यादा पापी है उतना ही ज्यादा उसको धर्मका स्वरूप समझानेकी कोशिश करना चाहिये। यही वीर भगवानकी कल्याणकारी शिक्षा थी, जो सर्व प्रिय हो जाती थी।

वीर भगवान्ने यह भी बताया था कि जिस तरह पुराना बीमार इलाज कराता हुआ कभी २ बद परहेज़ी भी कर जाता है और दवा नहीं खाता है, जिससे उस की बीमारी फिर उभर आती हैं और कभी २ तो पहले से भी बढ़ जाती है तो भी घरवाले उसका इलाज नहीं छोड़ देते हैं किन्तु फिरसे इलाज शुरू करके बराबर उस बीमारीको दूर करनेकी ही कोशिशमें लगे रहते हैं। उस ही प्रकार अगर कोई धर्मात्मा अधर्मी हो जावे, ऊँचे चढ़कर नीचे गिर जावे तो फिर उसको समझा-बुझाकर तसल्ली-तशफ्फी देकर और ज़रूरी सहायता पहुँचाकर धर्ममें लगा देना चाहिये। यह स्थितिकरण भी धर्म श्रद्धानका एक अङ्ग है, जो सच्चे श्रद्धानीमें होना ज़रूरी है। गृहस्थियोंको तो अपने धर्मसे गिर जानेके बहुत ही अवसर आते है। इस वास्ते उनको तो स्थितिकरणके द्वारा फिर धर्ममें लगा देना ज़रूरी है। किन्तु मुनि भी यदि धर्मसे भ्रष्ट हो जावे तो उसको भी फिर ऊपर उठाकर धर्ममें लगा देना चाहिये। उसका छेदोपस्थापन हो जाना चाहिये। अगर ज्यादा ही भ्रष्ट हो गया हो तो दोबारा दीक्षा मिल जानी चाहिये। जिस तरह बच्चा गिर गिर कर और उठ उठ कर ही खड़ा होना सीखता है उस ही प्रकार संसारी जीव भी धर्म ग्रहण करके बार-बार गिरकर और फिर संभलकर ही पक्का धर्मात्मा बनता है। सातवें गुण स्थान से छटेमें और छटेसे सातवेंमें तो मुनि बार-बार ही गिरता और चढ़ता है और ग्यारहवें गुणस्थान पर चढ़कर तो अवश्य ही नीचे गिर जाता है। तब गिरे हुयेको फिर ऊपर न उठने दिया जाय तो काम किस तरह चले? सबसे पहले जीवको उपशम सम्यक्त्व ही होता है, जो दो घड़ीसे ज़्यादा नहीं ठहर सकता है। वह इसके बाद मिथ्यादृष्टि हो जाता है और फिर दोबारा संभलने से ही सम्यक् श्रद्धानी होता है।

धर्मका स्वरूप समझाते हुये वीर भगवान्ने यह भी बताया था कि, धर्म कोई नौकरी नहीं है जो किसी की आज्ञाओंको पालन करनेसे ही निभ सकती हो या फौज़की क़वायद नहीं है जो शरीरके विशेषरूप साधन से आ सकती हो। या कोई कुशता नहीं है जो शरीरको आगमें तपाने, तरह तरहका कष्ट पहुँचाने, दुबला पतला और कमज़ोर बनाने या धूपमें सुखाने और भूखा मारनेसे बन जाता हो। धर्म तो वस्तुके असली स्वभावका नाम है। जीवका असली स्वरूप ज्ञानानन्द है, जिसमें बिगाड़ आकर और राग द्वेष और विषय-कषायके उफ़ान उठते हैं। इस कारण जिस जिस तर्कीबसे विषय-कषायोंका जोश ठण्डा होकर जीवका राग-द्वेष दूर हो सके वह ही धर्म-साधन है। वह ही साधन अपनी अपनी अवस्थाके अनुसार जैसा जिसके लिए ठीक बैठता हो वैसा ही उसको करने लग जाना चाहिये। वीर भगवान्ने भी भिन्न भिन्न साधन बताये हैं। गृहस्थियोंके ११ दर्जे करके उनके अलग अलग साधन सुनाये हैं और १४ गुणस्थानोंका कथन करके मुनियोंके वास्ते भी ध्यान आदिके कई दर्जे बताये हैं। फिर भी यह कथन दृष्टांतरूप बताकर हर एकका साधन उसकी ही अवस्था पर छोड़ा है। इस प्रकार साधन तो सबका भिन्न भिन्न हो गया परन्तु साँचा सबका एक यह हीं होना चाहिये कि राग-द्वेष दूर होकर हमारा जीवात्मा अपने असली स्वभावमें आजाय।

प्रत्येक मतके चलाने वालोंने और समय-समयके लीडरोंने अपने समयके सांसारिक रीति रिवाजोंमें भी अपने समयके अनुसार कुछ कुछ सुधार करना ज़रूरी समझा है और उनको पक्का बनानेके लिये धर्म पुस्तकोंमें भी उनको लिख देना ज़रूरी समझा है। जो होते होते धर्मके ही नियम बन जाते हैं, और लकीर के फ़कीर दुनियाके लोग भी अपने प्रचलित रीति रिवाजोंको धर्मके अटल नियम मानने लग जाते हैं। इस प्रकार सांसारिक रीति-रिवाज धर्मका रूप धारण करके धर्ममें मिल जाते हैं और यह भेद करना मुश्किल

हो जाता है कि इनमें कौन नियम सांसारिक है और कौन धार्मिक ? इससे धर्मकी असलियत गुप्त होकर भारी गड़-बड़ी पड़ जाती है, और सांसारिक प्रगति भी रुक जाती है, द्रव्य; क्षेत्र; काल; भाव और अवस्थादि सब कुछ बदल जाने पर भी उन सांसारिक नियमोंको धर्मके अटल नियम मानकर ज्योंका त्यों उनका पालन होता रहता है। हज़ार दुःख उठाने पर भी उनमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। उनके विरुद्ध करना महा अधर्म और अशुभ समझा जाता है।

मकान कैसा बनाया जावे, उसका दरवाजा किधर रक्खा जावे, दरवाजे कितने हों और कितने ऊँचे हो, खूँटी कहाँ लगाई जाय और शरण कहाँ मिलाई जाय, दाढ़ी मूँछ और सिरके बाल किस तरह मुंडाये जावें, उनका क्या ढंग रक्खा जावे, वस्त्राभूषण कैसे हों, सिर किस तरह ढका जाय, कपड़ा किस रंगका पहना जाय, और किस ढंगका पहना जाय, इसी तरह जाति और बिरादरी, आपसका बर्ताव, छूतछात, किस के हाथका पानी पीना, किसके हाथकी कच्ची और और किसके हाथकी पक्की रसोई खाना, रसोईकी सफाई के नियम, किस खानेको कहां बैठकर खाना, किस बर्तनमें खाना, कौन कौन कपड़े पहन कर खाना, किससे ब्याह-शादी करना, मरने पर किसको वारिस बनाना, मरने जीने और ब्याह शादीमें क्या क्या रीति होना, यह सब सांसारिक रीतियें धर्मके तौर पर मानी जाती हैं। और अन्य मतोंकी धर्म पुस्तकोंमें भी लिखी पाती हैं। जिनके कारण धर्मकी असली बातें लोप होकर यह ही धर्मकी बातें बन जाती हैं। इन ही कारणोंसे वीर भगवान्ने अपने उपदेशमें केवल धर्मके स्वरूप और उसके साधनोंका ही कथन किया है। और सांसारिक सारी बातोंको संसारी पुरुषों पर छोड़कर साफ़ साफ़ कह दिया है कि इनका धर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ही कारण है कि जैन ग्रन्थोंमें सांसारिक कार्यों के नियम बिल्कुल भी नहीं मिलते हैं। हां, यह सूचना ज़रूर मिलती है कि गहस्थी लोग अपने लौकिक कार्य समय और अवस्थाके अनुकूल जिस तरह चाहें करें परन्तु इस बातका ध्यान ज़रूर रक्खें कि उनसे उनके धार्मिक श्रद्धान और धार्मिक आचरणमें किसी भी प्रकारकी खराबी न आने पावे।

वीर भगवानके समयमें महात्मा बुद्ध भी अपने बौद्ध धर्मका प्रचार कर रहे थे, और मगध देशमें ही अधिकतर दोनों का विहार हुआ है। इस ही कारण वह देश अब बिहार ही कहलाने लग गया है,परन्तु वीर भगवान और महात्मा बुद्धके उपदेशोंमें प्रायः धरती-आकाशका अन्तर रहा है। वीर भगवानने तो वस्तु-स्वभावको ही धर्म बताकर प्रत्येक बातको उसकी असलियत अच्छी तरह ढूंढ पहचान कर ही मानने का उपदेश दिया है, जीवात्माको अपना सच्चा स्वरूप समझ कर ही उसकी प्राप्तिके साधन में लगाया है। परन्तु महात्मा बुद्ध अपने धर्मको वस्तु स्वभावकी बुनियाद पर खड़ा करनेसे यहां तक घबराये हैं कि जीवात्माका स्वरूप बतानेसे ही साफ़ इनकार कर दिया है। जगत अनादि है वा किसीका बनाया हुआ है, उसका अन्त हो जायगा वा नहीं, जीव आत्मा शरीरसे अलग कोई वस्तुहै वा शरीरके ही किसी स्वभाव का नाम है, मरनेके बाद जीव कायम रहता है या नहीं इन बातोंकी बाबत तो महात्मा बुद्धने साफ़ शब्दोंमें ही कह दिया है कि मैं कुछ नहीं बता सकता हूं इसलिए यह पता नहीं लगता है कि उनका धर्म किस आधार पर टिका हुआ है। बेशक वह अहिंसाका सभी उपदेश देता था, और दया धर्मको मुख्य ठहराता था, परन्तु उस समयमें हिंसाका प्रचार अधिक होनेके कारण उसको यह पाबन्दी लगानेका भी साहस नहीं हुआ कि उसके धर्मको अङ्गीकार करने वालेको मांस का त्याग ज़रूरी है। इसके अतिरिक्त उसने मरे हुए जीवोंका मांस खानेकी तो इजाज़त दे दी थी। किन्तु वीर भगवानने जैनी के लिए माँस, मदिरा और शहद त्याग आवश्यक ठहराया और मरे हुए पशुका मांस खाना भी महापाप बताया, क्योंकि उसमें तुरन्त ही त्रस जीव पैदा होने लगते हैं और मांस खानेसे घृणा न रहकर जीवोंको भी मार कर खाजानेको मन चलने लगता है। इस ही कारण बौद्धोंमें जीते जानवरोंको भी मारकर खाजानेका बहुत

प्रचार हो गया है और अहिंसा का एक नाम ही बाकी रह गया है।

अन्तमें हम सब ही पाठकोंसे प्रार्थना करते हैं कि वह वीर भगवानके उपदेशको पढ़ें और वस्तु स्वभावको समझें। जैनियोंसे भी हमारी यह प्रार्थना है कि आप ही वीर भगवानके उपदेशोंके अमानतदार हैं इस ही कारण इस बातके ज़िम्मेदार हैं कि वीर भगवानने जीव मात्रके कल्याणके अर्थ ३० वर्ष तक ग्राम २ फिर कर जिस धर्म तत्वको सब लोगों को सुनाया, उस समयमें होती हुई हिंसाको बन्द कराकर सुख और शान्ति का मार्ग चलाया वीर भगवानके उस कल्याण कारी तत्व उपदेश को और सुख और शान्तिके देनेवाले उस दया धर्मको आप भी सब तक पहुँचावें। आजकलमें जो हिंसा हो रही है उसका बन्द न होना क्या आप हीकी ग़फ़लतका नतीजा नहीं है? पूरी तरह प्रयत्न करलेने पर भी कार्य की सिद्धि न होनेमें मनुष्य अपनी ज़िम्मेदारीसे बच जाता है, परन्तु कुछ भी प्रयत्न न करनेकी अवस्थामें तो सारा दोष अपने ऊपर ही आता है।

साहित्य-परिचय और समालोचना

(१) जीतकल्पसूत्र (स्वोपज्ञ भाष्य-भूषित)— लेखक, श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण। संशोधक (संपादक) मुनि श्री पुण्यविजय। प्रकाशक, भाई श्री बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, हाजापटेलाकी पोल, अहमदाबाद। पृष्ठ संख्या, २२४। मूल्य, लिखा नहीं।

इस ग्रन्थका विषय निर्ग्रन्थ जैन साधु-साध्वियोंके अपराधस्थान विषयक प्रायश्चित्तोंका वर्णन है। इसमें मूल सूत्र गाथाएँ २०३ और भाष्यकी गाथाएँ २६०६ हैं। मूलकी तरह भाष्यकी गाथाएँ भी प्राकृत भाषामें हैं। भाष्यमें मूलके शब्दों और विषयका प्रायः अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है, और इससे वह बड़ा ही सुन्दर तथा उपयोगी जान पड़ता है। इस भाष्यकी बाबत अभी तक किसीको निश्चितरूपसे यह मालूम नहीं था कि यह किसकी रचना है, क्योंकि न तो इस भाष्यमें भाष्यकारने स्वयं अपने नामका उल्लेख किया, न चूर्णिकारने अपने ग्रंथमें इस भाष्य विषयक कोई सूचना की और न अन्यत्रसे ही ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख मिलता था जिसके आधारपर भाष्यकारके नामका ठीक निर्णय किया जाता। ग्रन्थ सम्पादक मुनि श्री पुण्यविजयजीने अपनी प्रस्तावनामें, इस भाष्यकी गाथा नं० ६०* और उसमें खास तौरसे प्रयुक्त हुए **'हेट्ठा'** शब्द परसे जिसका अर्थ 'पूर्व' होता है, यह निर्णय किया है कि यह भाष्य उन्हीं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका बनाया हुआ है जो आवश्यक-भाष्यके कर्ता हैं, और इसीसे उन्होंने इस गाथामें यह सूचित किया कि **'तिसमयहार'** अर्थात् **"जावइया तिसमया"** (आव० निर्युक्ति० गाथा ३०) इत्यादि आठ गाथाओंका स्वरूप जिस प्रकार पहले (पूर्व) आवश्यक (भाष्य) में विस्तारसे कहा गया है उसी प्रकार यहाँ भी वह वर्णनीय है। क्योंकि आवश्यक निर्युक्तिके अन्तर्गत **"जावइया तिसमया"** आदि गाथाओंका भाष्यग्रन्थ द्वारा, विस्तृत व्याख्यान करने वाले श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके सिवाय दूसरे और कोई भी नहीं हैं। इससे यह भाष्य मूल ग्रंथकारका ही निर्माण किया होनेसे स्वोपज्ञ है। इतनेपर भी यह भाष्य ग्रंथ प्रायः कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्पभाष्य, पिण्ड निर्युक्तिआदि ग्रंथोंकी गाथाओंका संग्रहरूप ग्रंथ है; क्योंकि इस ग्रंथमें ऐसी बहुत गाथाएँ हैं जो उक्त ग्रंथों की गाथाओंके साथ अक्षरशः मिलती जुलती हैं, ऐसा प्रस्तावनामें सूचित किया गया है। साथ ही, यह भी सूचित किया गया है कि श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी महाभाष्यकारके रूपमें ख्याति होते हुए भी प्रस्तुत भाष्य में श्री संघदासगणि-कृत भाष्यादि ग्रन्थोंकी गाथाओंके होनेमें कोई बाधा नहीं है; क्योंकि वे उनसे पहले हो चुके हैं। अस्तु, ग्रंथका सम्पादन बहुत अच्छा हुआ है,

* **तिसमय हारादीणं गाहाणऽट्ठण्ह वी सरूवंतु। वित्थरयो वण्णेज्जा जह हेट्ठाऽऽवस्सए भियेण**

मूल और भाष्यकी गाथाओंको भिन्न भिन्न टाइपोंमें दिया गया है, विषय सूची अलग देनेके अतिरिक्त ग्रंथमें जहाँपर जो विषय प्रारम्भ होता है वहाँपर उस विषयकी सूचना सुन्दर बारीक टाइपमें हाशियेकी तरफ दे दी है, इससे ग्रन्थ बहुत उपयोगी होगया है। छपाई-सफाई सुन्दर है और कागज भी अच्छा लगा है। ग्रंथ आत्मशुद्धिमें दत्तचित्त साधु-साध्वियोंके अतिरिक्त पुरानी बातोंका अनुसंधान करनेवाले विद्वानोंके संग्रह योग्य है।

(२) **निजात्मशुद्धिभावना और मोक्षमार्गप्रदीप** (हिन्दी अनुवाद सहित)—मूल लेखक, मुनि कुंथु-सागरजी। —अनुवादक, प०नानूलाल शास्त्री, जयपुर —प्रकाशिका, श्री संघवी नानीबहेन खितवाडा निवासी। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर १४४। मूल्य, स्वाध्याय। मिलनेका पता, पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, 'कल्याण' प्रेस, शोलापुर।

ये दोनों ग्रन्थ एक साथ निबद्ध हैं—पहलेमें ६४ और दूसरेमें १६४ संस्कृत पद्य हैं तथा पिछले ग्रन्थके साथमें ३८ पद्योंकी एक प्रशस्ति भी लगी हुई है, जिसमें लेखकने अपने गुरु आचार्य शान्तिसागरके वंशादिकका कीर्तन किया है, अपनी दूसरी रचनाओंका उल्लेख किया है और इस ग्रंथका रचना-समय ज्येष्ठ-कृष्ण १३ वीर निर्वाण संवत् २४६२ दिया है। साथ ही, अनुवादक और अनुवादके समयका भी उल्लेख कर दिया है। पहले ग्रंथका रचना-समय उसके अन्तिम पद्योंमें फाल्गुन शुक्ला ३ वीर नि० सं० २४६२ दिया हुआ है।

दोनों ग्रंथ अपने नामानुकूल विषयका प्रतिपादन करनेवाले, रचना-सौन्दर्यको लिये हुए, पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य हैं। अनुवाद भी प्रायः अच्छा ही हुआ है और उसके विषयमें अधिक लिखनेकी कुछ ज़रूरत भी मालूम नहीं होती, जबकि मूलकारने स्वयं उसे स्वीकार किया है और अपनी प्रशस्ति तकमें स्थान दिया है। अनुवादक महाशयने इस ग्रन्थकी एक हज़ार प्रतियाँ अपनी ओरसे बिना मूल्य वितरण भी की हैं, जिससे उनका ग्रंथके प्रति विशेष अनुराग होनेके साथ साथ सेवाभाव प्रकट है, और इसके लिये वे विशेष धन्यवादके पात्र हैं। ग्रंथकी दूसरी एक हज़ार प्रतियाँ प्रकाशिका नानी बहेनकी ओरसे बिना मूल्य वितरित हुई है। जिनका चित्र सहित परिचय भी साथमें दिया हुआ है।

लेखकने यह ग्रंथ अपने गुरु आचार्य शान्तिसागर-को समर्पित किया है। दोनोंके अलग अलग फोटो चित्र भी ग्रंथमें लगे हुए हैं और पं० वर्धमान पार्श्व-नाथ शास्त्रीने अपने 'आद्यवक्तव्य' में दोनोंका कुछ परिचय भी दिया है। परन्तु ग्रंथके साथमें कोई विषय-सूची नहीं है, जिसका होना ज़रूरी था।

(३) **धर्मवीर सुदर्शन**—लेखक, मुनि श्री अमर-चन्द। प्रकाशक, वीर पुस्तकालय, लोहा मंडी, आगरा पृष्ठसंख्या, सब मिला कर ११२। मूल्य, पांच आना।

सेठ सुदर्शनकी कथा जैन समाजमें खूब प्रसिद्ध है। यह उसीका नई तर्ज़के नये हिन्दी पद्योंमें प्रस्फुटित और विशद रूप है। इसमें धर्मवीर सेठ सुदर्शनके कथानकका ओजस्वी भाषामें बड़ा ही सुन्दर जीता-जागता चित्र खींचा गया है। पुस्तक इतनी रोचक है कि उसे पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता वह पशु बल पर नैतिक बलकी विजयका अच्छा पाठ पढ़ाती है। पद-पद पर नैतिक शिक्षाओं, अनीतिकी अवहेलनाओं और कर्तव्य-बोधकी बातोंसे उसका सारा कलेवर भरा हुआ है। साथ ही, कविता सरल, सुबोध और वर्णन-शैली चित्ताकर्षक है। लेखक महोदय इस जीवनीके लिखनेमें अच्छे सफल हुए जान पड़ते हैं। प्राचीन पद्धतिके कथानकोंको नवीन पद्धतिमें लिखनेका उनका यह प्रथम प्रयास अभिनन्दनीय है। उन्हें इसके लिखनेकी प्रेरणा अपने मित्र श्री मदनमुनिजीसे प्राप्त हुई थी। प्रेरणाका प्रसंग भी एक स्थान पर होलीके भारी हुल्लडमें सदाचारका हत्याकाण्ड और भारतीय सभ्यताका खून देखकर उपस्थित हुआ था, जिसका 'आत्म निवेदन' में उल्लेख है, और उससे यह भी मालूम होता है कि इस चरित्र ग्रंथका निर्माण राधे-श्याम-रामायणके ढंग पर भारतीय गांवोंमें सदाचारका महत्व समझाने-बुझानेके उद्देश्यसे हुआ है।

श्रीमान् दानवीर जैन समाज भूषण स्वर्गीय सेठ ज्वालाप्रसादजी, कलकत्ताकी धर्मपत्नी सेठानी साहिबा के आर्थिक सहयोगसे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। आपने इसका पूरा व्यय 'श्री वीर पुस्तक माला' लोहा मंडी आगराको, जिसका यह ग्रन्थ द्वितीय पुष्प है, प्रदान किया है। और इस तरह एक ग्रंथमालाको अपना कार्य चलानेमें मदद की है, जिसके लिये आप धन्यवाद के पात्र हैं। आपके दो छोटे छोटे पुत्रोंका चित्र पुस्तकमें देखकर समाजके हितार्थ लाखों रुपये खर्च करनेवाले सेठ साहबके असमय वियोगकी स्मृति ताज़ा होकर दुःख होता है और इन बच्चोंके चिरायु होने आदिके लिये अनायास ही हृदयसे आशीर्वाद निकल पड़ता है। पुस्तक छपाई, सफ़ाई तथा गेट-अपकी दृष्टिसे भी अच्छी है और सर्व साधारणके पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है।

(४) **श्री आदिनाथ स्तोत्र** (समश्लोकी पद्यानुवादसे युक्त)--अनुवादक, स्व० पं० लक्ष्मणजी अमरजी भट्ट गरोठ। प्रकाशक, सेठ हज़ारीलाल जी हरसुखजी जैन, सुसारी (इन्दौर)। पृष्ठ संख्या, ३४। मूल्य, नित्य पाठ।

यह प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्रका उसी छंदमें रचित हिन्दी पद्यानुवाद है। मूलकी तरह अनुवादका भी एक एक ही पद्य है--मूलका संस्कृत पद्य ऊपर और उसके नीचे अनुवादका पद्य दिया है। अनुवाद साधारण है और कहीं कहीं बहुत कुछ अस्पष्ट जान पड़ता है—मूलके आशयका पूर्ण रूपसे व्यंजक एवं प्रभावक नहीं है। नमूनेके तौर पर 'भिन्नेभकुम्भ' नामक ३६वेंपद्यका अनुवाद इस प्रकार है--

शार्दूल जो द्विरद मस्तकसे गिराके,
भूभाग भूषित करे गज मौक्तिकोंको।
सो भी प्रहार करदे यदि आश्रितों पै,
होता समर्थ न कदापि त्रिलोकमें भी॥

उक्त पद्यका जो अनुवाद कविवर पं० गिरधर शर्मा जी ने किया है वह निम्न प्रकार है--

नाना करीन्द्रदलकुम्भ विदारके की,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गज मोतियोंसे।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उसपै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है॥

इन दोनों अनुवादोंकी मूलके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि गिरिधरशर्माजीका अनुवाद मूलके बहुत अनुकूल तथा भावपूर्ण है। दूसरे पद्योंके, अनुवादकी तुलना परसे भी ऐसा ही नतीजा निकलता है और खूबी यह है कि यह अनुवाद भी उसी छंदमें किया गया है जिसमें कि मूलस्तोत्र निबद्ध है और आजसे बहुत वर्ष पहले वीरनिर्वाण संवत् २४५१ में मेरी भावनाके साथ छपकर बम्बईसे प्रकाशित भी हो चुका है। ऐसी हालतमें प्रस्तुत पुस्तककी 'दो शब्द' नामकी प्रस्तावनामें साहित्य रत्न पं० भंवरलाल भट्टने अपने पितामहकी इस कृतिका कीर्तन करते हुए और इसे प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा कुशल काव्यज्ञनका फल बतलाते हुए जो यह कल्पना की है कि समश्लोकी अनुवादकी कठिनाईके कारण ऐसे अनुवादको असंभव समझकर ही अब तक इस काव्यके समश्लोकी अनुवाद न किये गये होंगे, वह निःसार जान पड़ती है। अस्तु, यह पुस्तक जैन महिलादर्शके १८वें वर्षके ग्राहकोंको श्री० सौ० नाथीबाईजी धर्मपत्नी सेठ हरसुखजी रोडमल जी सुसारीकी ओरसे भेटस्वरूप वितरित हुई है।

(५) **गोम्मटसार कर्मकांड**—(मराठी संस्करण) मूल लेखक, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती। अनुवादक और प्रकाशक श्री नेमचन्द बालचन्द गांधी वकील, धाराशिव। बड़ा साइज पृष्ठ संख्या ५२४ मूल्य सजिल्द का ५) रु०।

यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवादादिके साथ अनेक बार प्रकाशित हो चुका है और जैन समाजका कर्म साहित्य विषयक एक प्रधान ग्रंथ है। अभी तक मराठी भाषामें इसका कोई अनुवाद नहीं हुआ था। इसका यह मराठी संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। इसमें मूल ग्रन्थकी गाथाओंके साथमें क्रमशः अनुवाद देनेकी पद्धतिको नहीं अपनाया गया है, बल्कि गाथा अथवा गाथाओंके नम्बर देकर उनके विषयका यथावश्यकता

अनुवाद, व्याख्यान तथा कोष्टकों आदिकी रचना-द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। एक विषयको एक ही स्थान पर जानेके लिये अनेक गाथाओंका सार एक दम दिया गया है। और इसी प्रकार अनेक गाथाओंके विषयको मिला कर एक ही कोष्टक भी करना पड़ा है। गाथाओंको क्रमशः अनुवाद पूर्वक साथ साथ देने पर ऐसा करनेमें दिक्कत होती थी, इस कठिनाईको दूर करनेके लिये सब गाथाओंको क्रम पूर्वक अधिकार-विभाग-सहित एक साथ (पृ० ४६६ से ५१२ तक) अलग दे दिया है। कोष्टकोंके निर्माणसे विषयको समझने ग्रहण करनेमें पाठकों तथा विद्यार्थियोंको आसानी हो गई है। इस संस्करणमें संदृष्टि आदिको लिये हुए २४५ कोष्टक दिये गये हैं, कोष्टकोंका निर्माण बड़े अच्छे ढंगसे किया गया है और उनमें विषय दर्पणकी तरह प्रायः साफ़ झलकता है। जहां कोष्टककी किसी विषयको विशेष स्पष्ट करनेकी जरूरत पड़ी है वहाँ उसका वह स्पष्टीकरण भी नीचे दे दिया गया है। इस तरह इस ग्रंथको परिश्रमके साथ बहुत उपयोगी बनाया गया है। जो लोग मराठी नहीं जानते वे भी इस ग्रंथके कोष्टकों परसे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं।

इस ग्रंथको लिखकर तैयार करनेमें ७॥ वर्षका समय लगा है, जिसमें पं० टोडरमलजी की भाषा टीका और श्री केशववर्णी तथा अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की संस्कृत टीकाका ब्र० शीतलप्रसादजी से अध्ययन काल भी शामिल है। अध्ययन कालके साथ साथ ही भाषान्तर (अनुवाद) का कार्य भी होता रहा है। ता० २० जुलाई सन् १९२९से कार्य प्रारम्भ होकर २२ फरवरी सन् १९३७ को समाप्त हुआ है। इस संस्करणके तैयार करनेमें वकील श्री नेमिचंद बालचंद्र जी गाँधी जीको जो भारी परिश्रम करना पड़ा है उसके लिये आप विशेष धन्यवादके पात्र हैं। आपने इसके लिये ब्र० शीतल प्रसादजीका बहुत आभार माना है और यहाँ तक लिखा है कि इसमें जो कुछ भी अच्छी बात है उस सबका श्रेय उक्त ब्रह्मचारीजीको है। अतः ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी भी ऐसे सत्कार्यमें सहयोग देनेके कारण खासतौरसे धन्यवादके पात्र हैं।

ग्रन्थमें एक छोटासा (५ पृष्ठका) शब्दकोश भी लगा हुआ है, जिसस दो भाग हैं—पहलेमें कुछ शब्दों का अर्थ मराठी भाषामें दिया है और दूसरेमें कुछ शब्दों के अर्थके लिये उन गाथाओंके नम्बर सामने लिखे हैं जिनमें उनका अर्थ दिया है। साथ ही '२१ पेजकी' विस्तृत विषय-सूची भी लगी हुई है जिसमें ग्रंथके ४०७ विषयोंका उल्लेख है, दोनों ही उपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त ६ पेजका शुद्धिपत्र और ३ पेजका "मीं काय केलें" नामका अनुवादकीय वक्तव्य भी है। इस वक्तव्य में मूल ग्रंथका निर्माणकाल ईसाकी आठवीं शताब्दी बतला दिया गया है, जो किसी मूलका परिणाम जान पड़ता है, क्योंकि जिन चामुण्डरायके समयमें इस ग्रंथकी रचना हुई है उनका समय ईसाकी दसवीं शताब्दी है—उन्होंने शक सम्वत् ९०० (ई० ९७८) में 'चामुण्डराय पुराणकी रचना समाप्त की है।

ग्रंथमें गाथाओंको जो एक साथ मिलाकर Running matter के तौरपर—छापा गया है वह कुछ ठीक मालूम नहीं हुआ। प्रत्येक गाथाको दो पंक्तियोंमें छापना अच्छा रहता—थोड़े ही कागजका फर्क पड़ता। गाथाओंकी एक अनुक्रमणिका भी यदि ग्रंथमें लगादी जाती तो और अच्छा होता। अस्तु।

ग्रन्थकी छपाई सफाई और काग़ज़ सब ठीक है और वह सब प्रकारसे संग्रह करनेके योग्य है।

Register No L.4328

अनुकरणीय

गत वर्ष कई धर्म-प्रेमी दाताओंकी ओरसे १२१ जैनेतर संस्थाओंको अनेकान्त एक वर्ष तक भेंट स्वरूप भिजवाया गया था। हमें हर्ष है कि इस वर्ष भी भेंट स्वरूप भिजवाते रहनेका शुभ प्रयास होगया है। निम्न सज्जनोंकी ओरसे जैनेतर संस्थाओंको भेंट स्वरूप अनेकान्त भिजवाया गया है।

अनेकान्त पर आए हुए लोकमतसे ज्ञात हो सकेगा कि अनेकान्तके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है। जितना अधिक अनेकान्तका प्रचार होगा उतना ही अधिक सत्य शान्ति और लोक हितैषी भावनाओंका प्रचार होगा। अनेकान्तको हम बहुत अधिक सुन्दर और उन्नतिशील देखना चाहते हैं। किन्तु हमारी शक्ति बुद्धि हिम्मत सब कुछ परिमित हैं! हमें समाज हितैषी धर्म बन्धुओंके सहयोगकी अत्यन्त आवश्यकता है। हम चाहते हैं समाजके उदार हृदय बन्धु जैनेतर संस्थाओं और विद्वानोंको प्रचारक दृष्टिसे अनेकान्त अपनी ओरसे भेंट स्वरूप भिजवाएँ और जैन बन्धुओंको अनेकान्तका ग्राहक बननेके लिए उत्साहित करें। ताकि अनेकान्त कितनी ही उपयोगी पाठ्य सामग्री और पृष्ठ संख्या बढ़ानेमें समर्थ हो सके। लड़ाईकी तेजीके कारण जबकि पत्रोंका जीवन संकटमय हो गया है, पत्रोंका मूल्य बढ़ाया जा रहा है। तब इस मंहगीके जमानेमें भी प्रचारकी दृष्टिसे केवल ३) रु० वार्षिक मूल्य लिया जा रहा है। इस पर भी जैनेतर विद्वानों शिक्षण संस्थाओं और पुस्तकालयोंमें भेंट स्वरूप भिजवाने वाले दानी महानुभावोंसे ढाई रुपया वार्षिक ही मूल्य लिया जायगा। किन्तु यह रियायत केवल जैनेतर संस्थाओंके लिये अमूल्य भिजवाने पर ही दी जायेगी। समाजमें ऐसे १०० दानी महानुभाव भी अपनी ओरसे सौ-सौ, पचास-पचास अथवा यथाशक्ति भेंट स्वरूप भिजवानेको प्रस्तुत हो जाएँ तो 'अनेकान्त' आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता हैं। जैनेतरोंमें अनेकान्त जैसे साहित्यका प्रचार करना जैनधर्मके प्रचारका महत्वपूर्ण और सुलभ साधन है।

बा० मोहनलालजी जैन देहली की ओर से:—

१. लायब्रेरियन, महावीर जैन पुस्तकालय, चांदनी चौक देहली।

ला० चिरञ्जीलालजी बड़जात्या, वर्धा की ओरसे:—

१. सैक्रेटरी, मारवाड़ी लायब्रेरी चाँदनी चौक देहली।

साहू अजितप्रसाद इन्द्रसैन जैन नजीबाबाद की ओरसे:—

१. मंत्री, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज पुस्तकालय बनारस।

२. मंत्री, महाराणा कालेज पुस्तकालय उदयपुर।

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।

चैत्र, वीर नि० सं० २४६६
अप्रैल १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ६
वार्षिक मूल्य ३ रु०

वीर-स्तवन

[१]

जयति जिनेश-पद-पदम परांग रेणु,
परसि परम-पापी पावन पलाये हैं।
बानसे प्रचण्ड-चण्ड-चण्डकोश नागपति,
पल माँहि घोर क्रूर भाव बिसराये हैं॥
विनय-विनत-नर अमर चमर-इन्दू-
माथके मुकुट चूम जाहि शोभा पाये हैं।
भवके गहन जल-निधिमें शरण-हीन
पोतसम तिन्हें भवजलसे तिराये हैं॥

[२]

रजनि भयावनीमें गाजे घनघोर घन,
घन अन्धकार सब तारागण मन्दजी।
कड़-कड़ कड़क सौदामिनि-दमक घोर,
जग-जीव काँपें, यह कैसो दुःख-कन्दजी॥
दुख दलिबेको तब प्रकटे हैं वीर मानो-
चीर घन-चीवरको पूनमके चन्द जी।
जयति जिनन्द जगजीवके आनन्द-कन्द,
टारे भव-फन्द-द्वन्द, त्रिशलाके नन्दजी॥

[३]

कौन पोत-सम भव-जलसे उतारे पार?
कौन मेघ-सम जग-ज्वालन बुझात है?
कौन महा-मोह व्याधि शमन करन-हित-
चतुर भिषग-सम भेषज बहात है?
संसार गहन निरजन बन-बीच भूले-
जनको दे शान्ति कौन मारग सुझात है?
कहत 'बसन्त'-सम कौन उपवन-हित
तजि वीर-पादपद्म और न लखात है॥

[४]

कौन चिन्तामणि-सम पूरे जन-मन-काज?
कौन दिनमणि-सम मोहको नसात है?
कौन हिमकण-सम तप्त-जन-मुदकारी?
कौन इन्दु-सम भवि-चकोर सुहात है?
कौन सिंह-सम कर्म-करिको विदारे कुम्भ?
कौन अरविन्द संत भ्रमर लुभात है?
चातकको मेघ-जिम कहत 'बसन्त' ताहिं
तजि वीर-पाद-पद्म और न लखात है॥

[ले०—श्री० बसन्तीलाल न्यायतीर्थ]

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय।

विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	उमास्वाति-स्मरण	३७७
२.	श्वेताम्बर कर्म-साहित्य और दिगम्बर पंचसंग्रह [पं० परमानन्दजी	३७८
३.	धर्माचरणमें सुधार [बा० सूरजभान वकील	३८५
४.	महावीर-गीत (कविता)—[शान्तिस्वरूप जैन "कुसुम"	३८९
५.	अहिंसा [श्री० बसन्तकुमार एम. एस. सी.	३९०
६.	संसारमें सुखकी वृद्धि कैसे हो ? [श्री दौलतराम मित्र	३९२
७.	प्रभाचन्दका तत्त्वार्थ सूत्र [सम्पादकीय	३९३
८.	मोक्ष-सुख[श्रीमद् रायचन्द	४०७
९.	वीर-श्रद्धाञ्जलि [श्री रघुवीरशरण एम. ए. 'घनश्याम'	४०८
१०.	प्राकृत पंचसंग्रहका रचना-काल [प्रो० हीरालाल जैन एम.ए.	४०९
११.	प्रश्न (कविता)—[श्री रत्नेश विशारद	४१०
१२.	साहित्य सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन दर्शन [पं० रतनलाल संघवी	४११
१३.	वीरका जीवन मार्ग [बा० जयभगवान बी. ए एल. एल. बी. वकील	४१४
१४.	वीर स्तवन (कवित्त)— [श्री बसन्तीलाल न्यायतीर्थ... ...	टाइटिल पृष्ठ १
१५.	साहित्य अरिचय और समालोचन	,, ,, ३

सूचना—

विलम्ब होनेके कारण इस किरणमें १६ पृष्ठ कम जा रहे हैं, उनकी पूर्ति आगामी किरणोंमें करदी जायेगी।

—व्यवस्थापक